२१ ।

चौखम्बा अमरभारती ग्रन्थमाला

२२

महाकविकालिदासविरचितं

मेघदूतम्

'इन्दुकला' संस्कृत-हिन्दीव्याख्योपेतम्

व्याख्याकारः

श्री वैद्यनाथ झा शास्त्री

2366



...ा अमरभारती प्रकाशन, वाराणसी



कृपया यह ग्रन्थ नीचे निर्देशित तिथि के पूर्व अथवा उक्त तिथि तक वापस कर दें। विलम्ब से लौटाने पर प्रतिदिन दस पैसे विलम्ब शुल्क देना होगा।

~~६-६/२/८२~~
~~१८-३-८३~~
~~१०/११-११-८३~~
~~५/८/३/२१-२-८८~~
२५-५-८८

इन्दुकला' संस्कृत-हिन्दीव्याख्यासहित

ऐतिहासिक वृहद् भूमिका विभूषित

व्याख्याकार—पं० वैद्यनाथ झा

इस संस्करण की विशेषता यह है कि मूल में जहाँ-जहाँ पौराणिक कथाओं का संकेत है, उन-उन स्थलों पर व्याख्या के साथ-साथ कथानक को भी ग्रंथ सन्दर्भपूर्वक लिखा गया है। इसकी समालोचनात्मक ऐतिहासिक भूमिका ही परीक्षार्थी के लिए पर्याप्त है २–००

सावलोक-

व्य

इस सं

के लब्ध प्रति

धनिक कृत अ

उल्लेख कर

तदनु पूर्व प्रव

होने के क

नहीं कर पात

में अनावश्यक

व्याख्या में अ

टिप्पणी में स्प

पिता कविता

देन है। अत

हणीय, पठनी

णात्मक सुविस

परीक्षार्थियों के लिए विशेष लाभदायक है। शीघ्र प्राप्त

प्राप्तिस्थानं—चौखम्बा अमरभारती प्रकाशन, वाराणसी

चौखम्बा अमरभारती ग्रन्थमाला
२२

महाकविकालिदासविरचितं

मेघदूतम्

'इन्दुकला' संस्कृत-हिन्दीव्याख्योपेतम्

व्याख्याकारः
श्री वैद्यनाथ झा शास्त्री



चौखम्बा अमरभारती प्रकाशन
वाराणसी
१९७८

प्रकाशक : चौखम्बा अमरभारती प्रकाशन, वाराणसी
मुद्रक : चौखम्बा प्रेस, वाराणसी
संस्करण : प्रथम, वि० सं० २०३५
मूल्य : १०–००

अपरं च प्राप्तिस्थानम्
चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस
के० ३७/९९, गोपाल मन्दिर लेन
पो० बा० ८, वाराणसी–२२१००१ (भारत)
फोन : ६३१४५

समालोचना

काव्यजगति 'लघुत्रयी'-रूपेण कुमारसंभव-रघुवंश-मेघदूताभिधासु कृतिषु अन्यतम 'मेघदूता'-ख्या कृतिरियं यद्यप्याकृत्या लघीयसी तथापि महीयसी भौगोलिकरीत्या मेघगमन-मार्गवर्णनपुरःसरं ललितं श्लेषाश्लेषसहितं शब्दार्थसौष्ठवं दधत्या काव्यरचनया प्रतिभाति।

अत्र भगवतः कुबेरस्य कनककमलरक्षायामधिकृतस्य कस्यचन यक्षस्यातिकामुकतया स्ववनितासक्तस्य स्वाधिकारपरिपालने प्रमाददर्शनाद् भर्त्रा वर्षपर्यन्तं भोग्येन भार्यावियोग-रूपेण शापेनास्तंगमितमहिम्नश्चित्रकूटाचले प्रवसतः प्रावृषि मेघदर्शनादुद्दीपितकामस्य स्वप्रियामुद्दिश्य मेघद्वारा स्वकुशलवृत्तान्तप्रेषणं कथावस्तु वर्त्तते। तत्र महता कौशलेन चित्र-कूटाचलादलकापर्यन्तं मेघवर्त्मनिर्देशः समुपनिबद्धः। यद्दर्शनेन वैज्ञानिकानामाधुनिकाना-मपि हृदयमाश्चर्यचकितं भवति, यत् तदानींतनसमये भरतीयानां विदुषां भौगोलिकज्ञाने भूयानधिकार आसीदिति।

अपि च केषांचित् सहृदयानां हृदयाधिष्ठितोऽयं भावः—यद् रामायणवद् भार्याविप्र-युक्तस्य दाशरथेर्लङ्कास्थिताया जनकसुताया अन्वेषणार्थं दूतरूपेण हनुमतः प्रस्थापनं तद्द्वारा स्ववृत्तान्तप्रेषणं च मनसि निधायात्रापि रामाद्रिस्थितस्य विप्रयुक्तस्य यक्षस्यापि मेघद्वारोदन्तप्रेषणेन गूढरूपेण रामायणीया कथा लक्षिता महाकविनेति।

किं च संस्कृतवाङ्मये दूतकाव्यानां मध्ये प्रथमं मेघदूतकाव्यमिदम्, एतदनुसृत्यैव पवन-दूत-हंससंदेशादि काव्यं कविभिरुपनिबद्धम्। अत्र हि सर्वैरपि मन्दाक्रान्तावृत्तमवलम्बितं मेघदूतानुसारेण न तु काव्यनिर्माणानुशासनानुसारेण, यत्तु विप्रलम्भशृङ्गाररसानुगुणतया साहित्यिकैरप्यनुमतं चतुर्षु, षट्सु, सप्तसु, यतेः सत्त्वात्।

अत्र धीरप्रशान्तोऽनुकूलो यक्षो नायकः, विनयादियुक्ता पतिव्रता स्वीया नायिका यक्षपत्नी, शापप्रवासाख्यो विप्रलम्भशृङ्गाररसः, प्रसादो गुणः, वैदर्भीरीतिर्महाकविना सर्वमेतद् यथावदुपनिबद्धम्।

अपि चास्य कवेर्जन्मादिसमये राष्ट्रभाषामयप्राक्कथनेऽत्रैव सविस्तरवर्णनं द्रष्टव्यमत मौनमालम्बितम्।

किं चास्य काव्यरत्नस्यानेकाष्टीकाः समुपलभ्यन्ते तास्वत्र क्रमेण संजीवनी, क्वचित् त्रुटिता चारित्रवर्द्धनी, परीक्षोपयोगिनी भावबोधिनी, सौदामिनी राष्ट्रभाषामयी च संनिवेशिता व्याख्या।

व्याख्याचतुष्टयोपेतं संस्करणमिदं विद्यार्थिनां विदुषां च प्रमोदार्थमत्यर्थक्षमं भूयादिति कामये।

प्राक्कथन

महाकवि दीपशिखा (कालिदास)

महाकवि दीपशिखा (कालिदास) का जन्म और जन्मभूमि कहां है ? इस विषयमें इतिहासकारोंको भी पूरा ज्ञान नहीं है । 'प्रसन्नराघव' के प्रणेता जयदेव कवि इन्हें 'कविकुलगुरु' कहनेमें नहीं हिचके । यथार्थमें संस्कृत साहित्यमें इन महाकविका स्थान अति उन्नत है । इनकी कविताकी शक्ति तथा प्रतिभा दोनों उच्च कोटिकी हैं ।

दीपशिखाके जीवनवृत्तके विषयमें कुछ भी ठीक-ठीक पता नहीं चलता है—क्योंकि इन महाकविने अपने रचित काव्योंमें अपने नामके अतिरिक्त और कुछ भी नहीं लिखा है । शायद उस समय यही प्रणाली रही हो । इसके उत्तर कालके साहित्यिकोंने भी इनके विषयमें कुछ नहीं लिखा है जिससे इनके जीवनवृत्त पर प्रकाश पड़े । इनकी भाषाकी शैली तथा काव्यमर्मज्ञता शास्त्रीय प्रमाणसे ओतप्रोत है । राजकीय तथा लौकिक, व्यावहारिक एवं प्राकृतिक वर्णनों द्वारा इनके जीवनचरितमें जो कुछ अनुमान किया गया है उसीके आधारपर और परम्परया जनश्रुतियों द्वारा जो ज्ञात किया गया है उसके आधारपर इनका चारु चरित लिखा पाया जाता है ।

जनश्रुतियां

(१) कहा जाता है कि दीपशिखा पूर्वमें अति जड़ थे । परन्तु विवाह होनेपर अपनी भार्या विद्यावतीद्वारा तिरस्कृत होनेपर इन्होंने कालीजीकी प्रबल आराधना की । फिर कालीद्वारा वरदान प्राप्त करके घर लौटे । तबसे इनकी प्रतिभामें अपूर्व शक्ति आ गई । घर लौटनेपर इनकी स्त्रीने इनसे कहा—'अस्ति कश्चित् वागर्थः' । इस वाक्यके प्रत्येक शब्दपर ध्यान देते हुए इन्होंने क्रमसे कुमारसम्भव, मेघदूत और रघुवंश रच डाले, जिनमें प्रत्येकके आदिमें अपनी प्रियाके संस्मरणार्थ एक-एक शब्द भी धर दिया । इन काव्योंके प्रारम्भके श्लोकों में अर्थात् वागर्थौ० कश्चित्कान्ता० और अस्त्युत्तरस्याम्० में दुरूह वेदान्त का रहस्य भरा पड़ा है—जो ऊंचे विद्वानोंको भी बोधगम्य नहीं होता है ।

(२) कहते हैं कि दीपशिखा लङ्काके राजा कुमारदासके राजपण्डित थे तथा वहीं किसी वेश्याके घरमें इनकी मृत्यु भी हो गयी थी ।

(३) कुछ लोग कहते हैं कि इनकी मृत्यु धारा नगरीमें ही हुई थी ।

निवासस्थान

दीपशिखाके काव्योंमें उज्जयिनी आदिके सविस्तर वर्णनसे तथा राजा विक्रमादित्यके नवरत्नमें एक रत्न होनेसे कुछ लोग इन्हें उज्जयिनी अधिवासी कहते हैं। कुछ लोग हिमालय वर्णनसे इन्हें काश्मीरका निवासी कहते हैं। कालीका उपासक होनेसे कुछ लोग बङ्गाल-निवासी कहते हैं। चिन्तामणि विनायक वैद्य इनके हिमालय वर्णनसे इन्हें बङ्गाली न मानकर काश्मीरी ही मानते हैं। वे कहते हैं कि हिमालयका ठीक वर्णन, विना वहाँ पैदा हुए इतना सुन्दर नहीं हो सकता था।

कालनिरूपण

एक स्वरसे सभी विद्वान् इन्हें विक्रमादित्यके दरवारके नवरत्नोंमें एक रत्न मानते हैं। पर किस विक्रमादित्यके कालमें ये आसीन थे, इसपर इतिहासकारोंमें मतैक्य नहीं है। कहते हैं कि सन् १००० ई० तक ६ विक्रमादित्य नामके नृपति हुए जिनमें तीन ६३४ ई० के पूर्व हुए और तीन ६३४ ई० के पश्चात्। ६३४ ई० का 'आएहोल' का एक प्रस्तर लेख प्राप्त हुआ है, जिसमें कालिदास तथा भारविका नाम पाया जाता है। महाकवि बाणभट्ट, जो ६२० ई० में थे, उन्होंने अपने काव्य हर्षचरितमें कालिदासका नाम लिया है। अतः यह सिद्ध है कि कालिदास ६२० के पूर्वमें प्रादुर्भूत हुए।

फर्ग्युशन महाशयका मत

महाशय फर्ग्युशनने कालिदासको ५४४ ई० में विद्यमान माना है। वे कहते हैं कि उज्जयिनीके विक्रमादित्यने ५४४ ई० में कारूरके युद्धमें हूणोंपर विजय प्राप्त की थी और इसी हर्षोल्लासमें अपने नामसे एक संवत् चलाया था और उस संवत् को पुराना बतानेके हेतु उसे ईसाके सन्से ५७ वर्ष पूर्वका बना डाला था। परन्तु फ्लीट महाशयने उक्त मतका खण्डन कर दिया है और विक्रम संवत्को प्राचीन सिद्ध कर दिया है तथा यह भी कहा है कि यह संवत् ८ वीं शताब्दी तक मालवसंवत्के नामसे चलता था—क्योंकि मालवामें उज्जयिनी है।

स्मिथ और मैकडोनल

महाशय स्मिथ और महाशय मैकडोनलने मन्दसौरके ४७३ ई० प्रस्तर-लेखके अनुसार कालिदासको ४०० ई० में द्वितीय चन्द्रगुप्त विक्रमादित्यका सम-

कालिक माना है। इन्हें ४०० ई० का माननेसे रघुवंशमें वर्णित रघुदिग्विजय समुद्रगुप्तके दिग्विजयसे तथा कुमारसंभवकी रचना—कुमारगुप्तकी जन्म-कथासे एवं विक्रमादित्यकी उपाधिके उपलक्ष्यमें विक्रमोर्वशीय नाटककी रचना सभी संगतियुक्त हो जाती हैं। सभी पाश्चात्य इतिहासज्ञ इसी मतको मानते हैं। किन्तु अप्रसिद्ध तथा ५०० वर्ष पुराने राजा अग्निमित्रकी कथाके आधारपर 'मालविकाग्निमित्र' की रचना एवं पाण्ड्य नृपतिका रघुवंशमें इतना विस्तृत वर्णन देखकर आलोचकोंको खटकता रहता है कि यह गलत है।

कुछ बड़े विद्वानों का मत

महाशय एस० राय, महाशय के० वी० शङ्कर, जायसवाल और एस० ए० परांजपे आदि इतिहासकोविदोंने कालिदासका ईसाकी प्रथम शताब्दी के पूर्व ही होना माना है। ये लोग कई प्रमाणोंके अतिरिक्त यह भी बताते हैं कि रामायण और महाभारत गुप्त कालमें भी आजकलके समान ही विद्यमान रहे। उनमें वर्णित राजवंशावली तथा रघुवंशमें वर्णित रघुवंशावलीमें भिन्नता पाई जाती है। यदि कालिदास गुप्तकालमें होते तो इनकी वंशश्रेणीमें भिन्नता न आती। श्री आर० वी० पटवर्धनने ज्योतिषसे गणना करके पता लगाया है कि ईसाके ५६ बरस पूर्व वे उत्पन्न हुए थे।

अश्वघोष और कालिदास

कहते हैं कि, कालिदास और अश्वघोषकी कृतियोंमें बहुत साम्य है। जैसा रघुवंशके द्वितीय सर्गके ३४ वें श्लोक—'अलं महीपाल तव श्रमेण'''और बुद्ध-चरित त्रयोदश सर्गके श्लोक—'मोघं श्रमं नार्हसि मार कर्तुम्''''''से साम्य है। इससे यह प्रकट होता है कि दोनोंमेंसे किसी एकने अन्यका अनुकरण अवश्य किया है। अतः किसने किसका अनुकरण किया ? कालिदासका ही अनुकरण अश्वघोषने किया है, क्योंकि अश्वघोष दार्शनिक कवि था और उसने दार्शनिकता फैलानेके लिए काव्यका अनुसरण किया तथा उस समय श्रृङ्गाररस-प्रधान काव्यका बोलबाला था। अश्वघोषने अपने काव्यका 'सौन्दरानन्द'में 'ग्राह्यं न ललितम्'से श्रृङ्गार को त्यागनेकी बात कही है, जिससे स्पष्ट हो जाता है कि श्रृंगाररस-प्रधान विपु कालिदासके ही श्रृङ्गारको उसने छोड़नेकी बात कही थी। साथ ही—कालिदास ने अपने नाटक मालविकाग्निमित्रमें भास, सौमिल्ल और कविपुत्र

आदिका नामोल्लेख करते समय अश्वघोषका नाम नहीं लिया। यदि अश्वघोष प्राचीन होता तो उसका भी नाम लेते।

महाकाव्य नाटक

दीपशिखाकृत ३ महाकाव्य हैं—रघुवंश, मेघदूत, कुमारसम्भव। इन तीनों महाकाव्योंको मिलाकर 'लघुत्रयी' कहा जाता है। ३ नाटक विक्रमोर्वशीय, मालविकाग्निमित्र और अभिज्ञानशाकुन्तल तथा श्रुतबोध और ऋतुसंहार भी इन्हींकी कृतियां हैं।

कुछ लोगोंके मत से घटखर्पर तथा श्रृङ्गारतिलक भी दीपशिखाके ही हैं।

'उपमा कलिदासस्य'

दीपशिखा उपमा-प्रधान कवि थे। इनकी उपमाको कोई नहीं पाता है। वास्तविकमें इनकी कविता संस्कृत भाषाका उज्ज्वल अलङ्कार है। करीब दो हजार वरसोंसे वह भावुकोंको प्रमुदित कर रही है। प्रसादकी स्निग्धता, माधुर्यगुणका सन्निवेश, ललितपदोंकी मधुरिमा, अर्थका सारस्य, अलङ्कारोंकी चारुता एवं मजुल आर्द्रता आदि महाकाव्यकी सभी विशेषताएँ तथा उन्नत काव्य की खूबियाँ इनके काव्योंमें विद्यमान हैं।

दीपशिखा आर्यावर्त्तकी संस्कृतिके प्रतिनिधि कवि माने गये हैं। इनके काव्योंके नायक-नायिकाएं भारतीयताकी भव्य मूर्त्तियां हैं। इनके काव्यको एक बार पढ़नेसे ही भारतीय सभ्यता तथा संस्कृतिका गौरवपूर्ण आविर्भाव प्रतीत होने लगता है। इन्हें विश्वके पर्याप्त अध्ययनका अनुभव था तथा अनुभवोंको ग्रहण करके व्यक्त करनेकी इनमें भावुकतामयी अपूर्व शक्ति थी। संसारमें अपने दार्शनिक तथा श्रृङ्गारमय, उदार, उन्नत तथा पवित्र भावोंको व्यवहारकी श्रेणीमें एकत्र कर जो खाका इन्होंने खींचा है, उसकी ध्वनि इनकी कविता आज भी दे रही है। इनकी कवितामें सच्चा भावुकपन एवं मार्मिकत्व है। उनके अन्तरसे एक पवित्र गन्ध आ रही है। नैत्यिकजीवनके सत्य मार्गोंसे वास्तविक रूप व्यक्त करनेकी इनमें क्षमता है और यही क्षमता जिसमें होती है वही लोकप्रिय कवि होता है। आर्यत्व का शुद्ध स्वरूप इनके काव्योंके भीतर निहित है। नाटकोंमें रमणीयताके साथ साथ आदर्शकी शिक्षा दी गयी है, जैसे—देव-ब्राह्मणमें भक्ति, गुरु-वाक्यमें दृढ विश्वास, गो-सेवा, अतिथि-सत्कार, राजाका प्रजानुराग आदि।

प्रकृतिका अनुपम वर्णन

दीपशिखा प्रकृतिके परमोपासक पुरोधा थे। इनकी काव्यकलात्मक ज्योतिने सूक्ष्म तत्त्वोंको प्रचुरतासे देखा है। इनके प्राकृतिक चित्रण चित्रके सदृश चित्रित होने लगते हैं। इनकी महती विशेषता यह है कि ये आभ्यन्तर तथा बाह्य दोनों प्रकृतियोंका निरीक्षण करते हैं। इन्होंने प्रकृतिको सुन्दर अलङ्कारोंसे अलंकृत किया है। इनके वर्णन नितान्त सुन्दर, सूक्ष्म और श्लेषमय होते हैं। इनका मेघदूत अद्भुत प्रतिभावाला ग्रन्थ है। यद्यपि इस पर 'पवनदूत' आदि कई ग्रन्थ रचे गये पर वे सब फीके हैं। ये भारतीय कलाके कलाधार और प्रतीक कवि हैं। ये संसारके सभी भाषाओंके कवियोंमें अग्रणी हैं—ऐसा सभी लोग मानते हैं।

दीपशिखाकी उपाधि

महाराज विक्रमादित्यने कालिदासको 'यं यं व्यतीयाय पतिंवरा सा' श्लोकके सुन्दर भावपर 'दीपशिखा' की उपाधि प्रदान की थी। [आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदीने 'सरस्वती' में इस बातको कई वर्ष पूर्व प्रकट कर दिया है।]

मेघदूत

इस खण्ड काव्यके जोड़का अन्य कोई काव्य शृङ्गाररसमें नहीं पाया जाता है। इसकी प्रशंसा सभी विद्वान् तारस्वरसे किया करते हैं। इसकी श्लोकसंख्या तीन मतोंसे तीन तरहकी है। मल्लिनाथके अनुसार ११८। वल्लभदेवके अनुसार १११। दक्षिणावर्त्तनाथके अनुसार २१०। इस ग्रन्थकी ३२ टीकाएँ हो चुकी हैं।

इस काव्यमें कालिदासने अपूर्व प्रतिभा दिखायी है। षट् शास्त्रके पाण्डित्यके साथ ही उनको भौगोलिक ज्ञान था, जो उस समय अतिकठिन था—क्योंकि आज-कलकी तरह उस समय वैसे मानचित्र तथा भूगोलकी पुस्तकें न थीं, कामशास्त्र का अनुभव, वात्स्यायन सूत्रोंसे समन्वित आसन, श्लिष्ट पद, सनातनधर्मका मण्डन, विज्ञानका समुचित परिज्ञान और सामुद्रिक शास्त्रके अकाट्य प्रमाणका उज्ज्वल ज्ञान था।

किं बहुना, मेघदूतके मनन तथा अन्वेषणसे स्पष्ट हो जाता है कि 'माघे मेघे गतं वयः' यह सूक्ति अति विशद तथा चरितार्थ है।

श्रेमरकः—

केदारनाथ शर्मा

॥ श्रीः ॥

मेघदूतकाव्यम्

सञ्जीवनी-चारित्रवर्द्धिनी-भावबोधिनी-सौदामिनी-चतुष्टयोपेतम् ।

अथ पूर्वमेघः

सञ्जीवनी

मातापितृभ्यां जगतो नमो वामार्धजानये ।
सद्यो दक्षिणदृक्पातसङ्कुचद्वामदृष्टये ॥ १ ॥

अन्तरायतिमिरोपशान्तये शान्तपावनमचिन्त्यवैभवम् ।
तन्नरं वपुषि कुञ्जरं मुखे मन्महे किमपि तुन्दिलं महः ॥ २ ॥

शरणं करवाणि कामदं ते चरणं वाणि चराचरोपजीव्यम् ।
करुणामसृणैः कटाक्षपातैः कुरु मामम्ब कृतार्थसार्थवाहम् ॥ ३ ॥

इहान्वयमुखेनैव सर्वं व्याख्यायते मया ।
नामूलं लिख्यते किञ्चिन्नानपेक्षितमुच्यते ॥ ४ ॥

'आशीर्नमस्क्रिया वस्तुनिर्देशो वापि तन्मुखम्' इति शास्त्रात्काव्यादौ वस्तुनिर्देशात्कथां प्रस्तौति—

कश्चित्कान्ताविरहगुरुणा स्वाधिकारात्प्रमत्तः
शापेनास्तङ्गमितमहिमा वर्षभोग्येण भर्तुः ।
यक्षश्चक्रे जनकतनयास्नानपुण्योदकेषु
स्निग्धच्छायातरुषु वसतिं रामगिर्याश्रमेषु ॥ १ ॥

कश्चिदिति ॥ स्वाधिकारात्स्वनियोगात्प्रमत्तोऽनवहितः । 'प्रमादोऽनवधानता' इत्यमरः । 'जुगुप्साविरामप्रमादार्थानामुपसंख्यानम्' इत्यपादानत्वम् । तस्मात् पञ्चमी । अत एवापराधाद्धेतोः कान्ताविरहेण गुरुणा दुर्भरेण । दुस्तरेणेत्यर्थः । 'गुरुस्तु गीष्पतौ श्रेष्ठे गुरौ पितरि दुर्भरे' इति शब्दार्णवे । वर्षभोग्येण संवत्सरभोग्येण । 'कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे' इति द्वितीया । 'अत्यन्तसंयोगे च' इति

समासः। 'कुमति च' इति णत्वम्। भर्तुः स्वामिनः शापेन अस्तङ्गमितो महिमा सामर्थ्यं यस्य सोऽस्तङ्गमितमहिमा। अस्तमिति मकारान्तमव्ययम्। तस्य 'द्वितीया—' इति योगविभागात्समासः। कश्चिदनिर्दिष्टनामा यक्षो देवयोनि विशेषः। 'विद्याधराऽप्सरोयक्षरक्षोगन्धर्वकिन्नराः। पिशाचो गुह्यकः सिद्धो भूतोऽमी देवयोनयः' इत्यमरः। जनकतनयायाः सीतायाः स्नानैरवगाहनैः पुण्यानि पवित्राण्युदकानि येष तेषु। पावनेष्वित्यर्थः। छायाप्रधानास्तरवश्छायातरवः। शाकपार्थिवादित्वात्समासः। स्निग्धाः सान्द्राश्छायातरवो नमेरवृक्षा येषु तेषु। वसतियोग्येष्वित्यर्थः। 'स्निग्धं तु मसृणे सान्द्रे' इति। 'छायावृक्षो नमेरुः स्यात्' इति च शब्दार्णवे। रामगिरेश्चित्रकूटस्याश्रमेषु वसतिम्। 'वहिवस्यर्तिभ्यश्च' इत्यौणादिकोऽतिप्रत्ययः। चक्रे कृतवान्। अत्र रसो विप्रलम्भाख्यः शृङ्गारः, तत्राप्युन्मादावस्था। अत्र एकत्रानवस्थानं सूचितमाश्रमेष्विति बहुवचनेन। सीतां प्रति रामस्य हनुमत्संदेशं मनसि निधाय मेघसंदेशं कविः कृतवानित्याहुः। अत्र काव्ये सर्वत्र मन्दाक्रान्तावृत्तम्। यदुक्तम्—'मन्दाक्रान्ता जलधिषडगैर्म्भौ नतो ताद् गुरू' इति ॥ १ ॥

चारित्रवर्धिनी

नत्वा पद्मावतीपादपद्मं सम्प्रियामहम्।
मेघदूताख्यकाव्यस्य कुर्वे टीकां यथामति ॥ १ ॥

एवं हि किल श्रूयते। समस्तप्रशस्तसर्वास्तिकप्रवरसमभिलष्यमाणवैभवस्तत्रभवन्नवानीवल्लभसखो निखिलकिन्नरप्रवरोत्तमाङ्गशेखरीकृतविततशासनः कदाचित् कमपि कनककमलरक्षणपदं यक्षमादिदेश। सोऽपि तदाज्ञावशयो लसदनुणप्रणयगुणानुबद्धाशयोऽपि मानससरोवरमार। तत्र कथं कथमपि त्रियामायामह्नयमतिवाह्य रजन्यपि निर्जनगामैवेति मन्यमानो निजकान्ताविरहकातरः स्वाश्रयमेयायासीत्। अत्रान्तरे क्षणदाप्रान्तसमुत्पन्नबोधविधूतश्रोत्रतालास्तरलतरशुण्डादण्डास्फालनप्रोहलितसफलजलजजातयो दिग्गजास्तत्तडागभागमालोडयाञ्चक्रुर्बकाः। राजराजोऽपि प्रातरेवाकर्णिततद्वृत्तान्तः समुत्पन्नरोषकषायविलोचनश्चपलतरं तमाहूय स्वकीयजायाव्यसनिनमज्ञया तयैव तव संवत्सरमदर्शनमस्तु महिमा च विलीयतामित्यशाप्सीच्चेममत्र वस्तुनिर्देशमुद्दिशन्नाह—चिकीर्षितस्य काव्यस्याशीर्नमस्क्रिया वस्तुनिर्देशो वापि तन्मुखमिति न्यायात्।

कश्चिदनिर्दिष्टनामधेयो यक्षो गुह्यको रामेण दाशरथिनोपलक्षितो गिरी रामगिरिश्चित्रकूटः पर्वतस्तस्याश्रमा मुनिगृहास्तेषु वसतिमवस्थानं चक्रे कृतवान्। बहुवचनं चिरहितपादेकत्रावस्थानासम्भवसूचनार्थम्। कीदृशेषु। जनकस्य तनया सीता तस्याः स्नानेनाप्लवनेन पुण्यानि पवित्राण्युदकानि येषु तेषु। एतेन पतिव्रतासंयोगात्पुण्यत्वं निरूपितम्। तथा स्निग्धाः सान्द्रबहुलाश्छायाऽनातपस्तत्प्रधानास्तरवो वृक्षा येषु ते

तेषु। अनेन वियोगिनो योग्यं स्थानं ध्वन्यते। ननु निजस्थानमलकां परित्यज्य तपोवनाश्रये कोऽस्य हेतुरित्याह—भर्तुः स्वामिनः कुबेरस्य शापः कोपवचस्तस्मादस्तङ्गतः प्रतिहतो महिमा दूरविलोकनश्रवणादिशक्तिर्यस्य स तथा : कीदृशेन वर्षेण संवत्सरेण सम्भुज्यते समाप्यते वर्षभोग्यः। यद्वा वर्षं भोग्यः कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे द्वितीया। तेन तथा कान्ताया वल्लभाया विरहो वियोगस्तेन गुरुर्दुर्वहस्तेन। अथवा कान्ताविरहे गुरुरिव गुरुपदेशकः। तेन स्त्रीवियोगित्वेऽमुष्यामनुष्यपरिज्ञानत्वात्। ननु किमर्थं स्वामी शशापेत्याह—आत्मीयोऽधिकारो व्यापारस्तडागरक्षणस्तस्मिन् प्रमत्तो विकलः। अतो रागस्य स्थितिमात्रात्तीर्थभूतोऽयं पर्वत इति तमेवावीभजत्। यतो यतो 'यदध्यासितमर्हद्भिस्तद्धि तीर्थं प्रचक्षते' इति। जनकात्मजाविरहितो रामस्तत्रासीनस्तां प्राप्तवान्। अतो ममाप्येवं स्थानमहिम्ना कान्तासङ्गतिर्भविष्यतीति तस्याश्रयणम्। अत्र वर्षभोग्यत्वेन षड्ऋतुष्वपि नानाप्रकारविरहिदुःखानुभवनं दर्शितम्। अत एव 'येन संवत्सरो दृष्टः सकृत्कामश्च सेवितः। तेन सर्वमिदं दृष्टं पुनरावर्तितं जगत्'॥ नह्यत्र शापावसानस्तत्र रागस्य स्थितिकारणात्। कर्त्रभिप्रायाभावाच्च आत्मनेपदं कथमिति न वाच्यम्। पदसंस्कारेण साधुत्वाङ्गीकारात्। सर्वत्र मन्दाक्रान्ता वृत्तम्। तल्लक्षणं यथा—'मन्दाक्रान्ता जलधिषडगैर्म्भौ नतौ ताद् गुरू चेत्'। प्रावृडाश्रयेण प्रवासविप्रलम्भशृङ्गारः॥ १॥

भावबोधिनी

आत्मभक्तशुभभावबोधिनीं भारतीं ननु नमन् मनसैव।
मेघदूत इह भावबोधिनीं ब्रह्मशंकरबुधो विदधाति॥

भाव०—कश्चित् यक्षः स्वप्रियाप्रेमपाशबद्धतया कनककमलरक्षणे स्वाधिकारे कृतप्रमादः कुपितेन स्वामिना कुबेरेणैकवर्षपर्यन्तं भार्यादर्शनं विहातुं दत्तशापतया विलीनात्मानुरूपसामर्थ्यश्चित्रकूटाचलस्य सीतया पवित्रीकृतेषु निविडच्छायातरुष्वाश्रमेषु वासं चक्रे॥ १॥

सौदामिनी

एकदा राजराज (कुबेर) का एक आज्ञाकारी सेवक जो यक्ष जातिका था। जिसने अपने स्वामीकी आज्ञा, अपनी नूतन भार्याके प्रेमपाशमें परिबद्ध होकर, भङ्ग की थी-अर्थात् अपने कर्त्तव्यसे पराङ्मुख हुआ था। जिस कारण वह यक्ष उन्हीं स्वामीके रोषवश शापित हुआ। शापके कारण वह असमर्थ होकर तथा अपनी भार्याके विरहसे अत्यन्त कष्टदायक उक्त शापको (एक वर्षतक) भोगनेके लिये महारानी जनकात्मजा (सीता) के स्नानों द्वारा पवित्र हुए जल तथा छायादार वृक्षोंसे सुशोभित रामगिरि नामक पर्वतपर (आश्रम बनाकर निवास करने चला गया) निवास करने लगा॥ १॥

तस्मिन्नद्रौ कतिचिदबलाविप्रयुक्तः स कामी
नीत्वा मासान्कनकवलयभ्रंशरिक्तप्रकोष्ठः ।
आषाढस्य प्रथमदिवसे मेघमाश्लिष्टसानुं
वप्रक्रीडापरिणतगजप्रेक्षणीयं ददर्श ॥ २ ॥

सञ्जी०—तस्मिन्निति । तस्मिन्नद्रौ चित्रकूटाद्रौ । अबलाविप्रयुक्तः कान्ताविरही । कनकस्य वलयः कटकम् । 'कटकं वलयोऽस्त्रियाम्' इत्यमरः । तस्य भ्रंशेन पातेन रिक्तः शून्यः प्रकोष्ठः कूर्पराधःप्रदेशो यस्य स तथोक्तः । 'कक्षान्तरे प्रकोष्ठः कूर्पराधः' इति शाश्वतः । विरहदुःखात्कृश इत्यर्थः । कामी कामुकः स यक्षः । कतिचिन्मासान् । अष्टौ मासानित्यर्थः । 'शेषान्मासान् गमय चतुरः' इति वक्ष्यमाणत्वात् । नीत्वा यापयित्वा । आषाढानक्षत्रेण युक्ता पौर्णमास्याषाढी 'नक्षत्रेण युक्तः कालः' इत्यण् । 'टिड्ढाणञ्—' इत्यादिना ङीप् । साषाढ्यस्मिन्पौर्णमासीत्याषाढो मासः । 'सास्मिन्पौर्णमासीति संज्ञायाम्' इत्यण् । तस्य प्रथमदिवसे आश्लिष्टसानुमाक्रान्तकूटम् । वप्रक्रीडा उत्खातकेलयः । 'उत्खातकेलिः शृङ्गाद्यैर्वप्रक्रीडा निगद्यते' इति शब्दार्णवे । तासु परिणतस्तिर्यग्दन्तप्रहारः । 'तिर्यग्दन्तप्रहारस्तु गजः परिणतो मतः' इति हलायुधः । स चासौ गजश्च तमिव प्रेक्षणीयं दर्शनीयं मेघं ददर्श । गजप्रेक्षणीयमित्यत्रेवलोपाल्लुप्तोपमा । केचित् 'आषाढस्य प्रथमदिवसे' इत्यत्र 'प्रत्यासन्ने नभसि' इति वक्ष्यमाणनभोमासप्रत्यासत्त्यर्थं 'प्रथमदिवसे इति पाठं कल्पयन्ति । तदसङ्गतम् । प्रथमातिरेके कारणाभावात् । नभोमासस्य प्रत्यासत्त्यर्थमित्युक्तमिति चेन्न । प्रत्यासत्तिमात्रस्य मासप्रत्यासत्त्यैव प्रथमदिवसस्याप्युपपत्तेः अत्यन्तप्रत्यासत्तेरुपयोगाभावेनाविवक्षितत्वात् । विवक्षितत्वे वा स्वपक्षेऽपि प्रथमदिवसातिक्रमेण मेघदर्शनकल्पनायां प्रमाणाभावेन तदसम्भवात् । प्रत्युतास्मत्पक्ष एव कुशलसंदेशस्य भाव्यनर्थप्रतीकारार्थस्य पुरत एवानुमानमुक्तं भवतीत्युपयोगसिद्धिः । ननून्मत्तस्य नायं विवेक इति चेन्न । उन्मत्तस्य नानर्थस्य प्रतीकारार्थं प्रवृत्तिरपीति सन्देश एव मा भूत् । तथा च काव्यारम्भ एवाप्रसिद्धः स्यादित्यहो मूलच्छेदी पाण्डित्यप्रकर्षः । कथं तर्हि 'शापान्तो मे भुजगशयनादुत्थिते शार्ङ्गपाणौ' इत्यादिना भगवत्प्रबोधावधिकस्य शापस्य मासचतुष्टयावशिष्टस्योक्तिः दशदिवसाधिक्यादिति चेत्—स्वपक्षेऽपि कथं सा, विंशतिदिवसैर्न्यूनत्वादिति सन्तोष्टव्यम् । तस्मादीषद्वैषम्यमविवक्षितमिति सुष्ठूक्तं 'प्रथमदिवसे' इति ॥ २ ॥

चारि०—अत्र स्थितश्च किं व्यधादित्याकाङ्क्षायां व्याचष्टे—

तस्मिन्निति—कामी कामुकः स यक्षस्तस्मिन् चित्रकूटगिरेरेवानुवृत्तिस्तच्छब्देन विधिवत् इत्यनुमन्तव्यम् । कतिचित्कियतोऽपि शेषान्मासानतियाप्याऽऽषाढस्य

प्रथमः प्रवरश्चासौ दिवसश्च । यस्मिन् वासरे स मासः पूर्तिमियर्ति सा, आषाढ्यमावास्येति भावः । तस्य प्रवरत्वं च कृत्वादिकार्याणां तस्मिन्प्रारभ्यमाणत्वात् । मेघं यस्मिन् ददर्श विलोकितवान् । कीदृशम् । आश्लिष्टा आलिङ्गिताः सानवः शिखराणि येन तम् । तथा वप्रस्य तटस्य क्रीडा विदारणं तत्र परिणतस्तिर्यग्दन्तप्रहारश्चासौ गजश्च तद्वत्प्रेक्षितुं योग्यो रमणीयो यस्तम् । उपमालङ्कारः कीदृशो यक्षोऽवलया प्रियया विप्रयुक्तो विरहितोऽत एव कृशशरीरत्वात्कनकस्य हेम्नो वलयानि कङ्कणानि तेषां भ्रंशोऽधःपतनं तेन रिक्तौ शून्यौ प्रकोष्ठौ कूर्पराधोभागौ यस्य स तथा । कामोऽस्यास्तीति कामी । आतिशायने मत्वर्थीयः अत एवालङ्करणमकरोत्कामी मण्डनप्रिय इति वचनात् । 'आदिप्रवरौ प्रथमौ प्रधाने परिकीर्तितौ । वप्रो रोधसि केदारे प्राकारे पितरि स्मृतः । तिर्यग्दन्तप्रहारस्तु गजः परिणतो मतः परिणतग्रहणेनैव सिद्धे पुनर्गजग्रहणं करिकलभवत् ज्ञेयम् । प्रशमदिवस इति पाठे मासस्यावसानो दिवसः स एव प्रशमदिवसः तत्र पवाद्यच् । प्रथमः प्रख्यातो विष्णुदिवसः प्रथमैकादशीत्यर्थः । तत्रात एव 'शापान्तो मे भुजगशयनादुत्थिते शार्ङ्गपाणौ' 'मासानेतान् गमय चतुर' इति वाक्यम् ॥ २ ॥

भाव०—ततः क्षीणः स यक्षो भार्याविरहितस्तस्मिन् गिरावष्टौ मासान् कथंचिदतिवाह्य प्रक्षीणकलेवरः सन् 'आषाढस्य प्रथमदिवसे पर्वतशिखरारूढं तिर्यग्दन्तप्रहारकारिकरीन्द्रानुकारिणं जलधरं दृष्टवान् ॥ २ ॥

सौ०—उस चित्रकूट पर्वत के ऊपर निवास करते हुए तथा भार्या के विरह से क्लेशित होनेसे वह यक्ष कृशांग हो गया । कृशांग होने से उसके हाथ से, ढीला होकर, उसका सुवर्णका कटक (कड़ा) गिर गया । उस कृशांग यक्ष ने वहाँपर कई मास व्यतीत किये । पश्चात् आषाढ़ मासके प्रथम दिन में उसने मेघों को देखा । जो मेघ उस समय ऐसे सुन्दर मालूम पड़ते थे जैसे हाथी अभिलषित क्रीड़ा में आसक्त होकर शैलकूटों में अपने तिरछे-तिरछे दांतोंका प्रहार करते हुए सुन्दर दिखाई देते हैं ॥ २ ॥

तस्य स्थित्वा कथमपि पुरः कौतुकाधानहेतो-
रन्तर्बाष्पश्चिरमनुचरो राजराजस्य दध्यौ ।
मेघालोके भवति सुखिनोऽप्यन्यथावृत्ति चेतः
कण्ठाश्लेषप्रणयिनि जने किं पुनर्दूरसंस्थे ॥ ३ ॥

सञ्जी०—तस्येति । राजानो यक्षाः । 'राजा प्रभौ नृपे चन्द्रे यक्षे क्षत्रियशक्रयोः' इति विश्वः । राज्ञां राजा राजराजः कुबेरः । 'राजराजो धनाधिपः' इत्यमरः । 'राजाहःसखिभ्यष्टच्' इति टच्प्रत्ययः । तस्यानुचरो यक्षः । अन्तर्बाष्पो धीरोदात्तत्वादन्तःस्तम्भितास्रः सन् । कौतुकाधानहेतोरभिलाषोत्पादकारणस्य । 'कौतुकं

चाभिलाषे स्यादुत्सवे नर्महर्षयोः' इति विश्वः। तस्य मेघस्य पुराऽग्रे कथमपि। गरीयसा प्रयत्नेनेत्यर्थः। 'ज्ञानहेतुविवक्षायामप्यादि कथमव्ययम्। कथमादि तथा-प्यन्तं यत्नगौरवबाढयोः' इत्युज्ज्वलः। स्थित्वा चिरं दध्यौ चिन्तयामास। 'ध्यै-चिन्तायाम्' इति धातोर्लिट्। मनोविकारोपशमनपर्यन्तमिति शेषः। विकारहेतु-माह—मेघालोक इति। मेघालोके मेघदर्शने सति सुखिनोऽपि प्रियादिजनसङ्ग-तस्यापि चेतश्चित्तमन्यथाभूता वृत्तिर्व्यापारो यस्य तदन्यथावृत्ति भवति। विकृति-मापद्यत इत्यर्थः। कण्ठाश्लेषप्रणयिनि कण्ठालिङ्गनार्थिनि जने। दूरे संस्था स्थितिर्यस्य तस्मिन्दूरसंस्थे सति किं पुनः। विरहिणः किमुत वक्तव्यमित्यर्थः। विरहिणां मेघसन्दर्शनमुद्दीपनं भवतीति भावः। अर्थान्तरन्यासोऽलङ्कारः। तदुक्तं दण्डिना—'ज्ञेयः सोऽर्थान्तरन्यासो वस्तु प्रस्तुत्य किंचन। तत्साधनसमर्थस्य न्यासो योऽन्यस्य वस्तुनः' इति ॥ ३ ॥

चारि०—मेघावलोकनानन्तरं यक्षः किमकार्षीदित्याह—तस्येति।

राजराजस्य धनदस्यानुचरः किङ्करो यक्षस्तस्य मेघस्य पुरोऽग्रे कथमपि महता कष्टेन स्थित्वा चिरं चिरकालं दध्यौ ध्यातवान्। स्वजायामभिसन्धाय चिरं चिन्त-यति स्मेत्यर्थः। यद्वा निजाभिप्रायममुष्मै कथयामि न वेति चिन्तयामास। केचि त्सकर्मकत्वात्किमप्यज्ञायमानं वस्तु दध्याविति व्याचक्षते। प्रत्यासन्नेऽस्मिन्दुःसहे मेघसमये कान्ताप्राणरक्षणं करोमीति ध्यातवानित्यपरे। सकर्मकस्यापि कर्माविवक्षा ऽश्ववद्गच्छतीत्यत्र यथा। अथवा सकर्मकत्वादध्याहारक्लेशं मत्वा नान्यथा व्या-कुर्वते अनुचरो मेघसमये कौतुकाधानहेतोः पुरोऽलकायाः स्थित्वा निश्चलीभूय यस्य राजराजस्य दध्यौ। अधीगर्थदयेशां कर्मणीति षष्ठी। कीदृशस्य मेघस्य कौतुकानां कुतुकानामाधानं तस्य हेतोः। कीदृशोऽनुचरः। अन्तःस्तम्भितम्, बाष्पमश्रु येन स तथा। प्रभुत्वाद्बहिरनिःसृतपानीयलोचनो बभूव। प्रभुत्वं चामुष्य राजराजस्य सेवकत्वात्। जलदविलोकनादस्य चेतसो वैकल्यं किमित्यासीदित्याह—सुखिनः कान्तासहितस्यापि पुंसश्चेतो मनो मेघस्यालोको दर्शनं तस्मिन् सति। अन्यथा वृत्तिर्यस्य तत्प्रकृताववस्थितेरन्यथा वर्त्तनमित्यर्थः भवति सम्पद्यते। कण्ठे आश्लेष आलिङ्गनं तत्र प्रीतिर्यस्य तस्मिन् वल्लभालक्षणे जने दूरसंस्थेऽन्तर्धानभाजि सति चित्तमन्यथावृत्तिस्यात् किं पुनः किं वक्तव्यम्। अन्यथावृत्ति भवत्येवेत्यर्थः। 'आलोकौ दर्शनद्योतौ भेरीपटहमानकावि'त्यमरः ॥ ३ ॥

भाव०—कुबेरसेवकः स यक्षः कामोत्पादकस्य तस्य मेघस्य पुरः कथमपि स्थित्वाऽन्तःसंस्तम्भिताश्रुः सुचिरं चिन्तयामास। जलददर्शने जाते हि स्त्रीसंपृक्त-तनोरपि जनस्य चित्तं विकृतिं प्राप्नोति, किं पुनः प्रेयसीविरहिणो विषये वक्तव्यम् ॥

सौ०—राजराजका वह सेवक, स्तम्भिताश्रु (आँखों में आँसू रोककर) होकर अभि-

लाषोत्पादक (कामोत्पादक) मेघके सम्मुख येन केन प्रकारेण स्थित होकर दीर्घकालतक वियोगावस्थापर सोच करने लगा। आह ! मेघोंके दर्शन होनेपर, सम्भोग की सभी सामग्रीसे पूर्ण सुखी मनुष्यों का अन्तःकरण अन्यथावृत्तित्व (व्याकुलत्व) को प्राप्त करता है। हा ! कण्ठसे आलिंगन करनेकी अभिलाषावाले मेरे सदृश दूरदेशमें निवास करनेवाले व्यक्तिकी तो, बात ही क्या है। हन्त ! ऐसे व्यक्तियोंको विरहसे अतीव कष्ट होता है ॥ ३ ॥

अथ समाहितान्तःकरणः सन्किं कृतवानित्यत आह—

प्रत्यासन्ने नभसि दयिताजीविताालम्बनार्थी
जीमूतेन स्वकुशलमयीं हारयिष्यन्प्रवृत्तिम् ।
स प्रत्यग्रैः कुटजकुसुमैः कल्पितार्घाय तस्मै
प्रीतः प्रीतिप्रमुखवचनं स्वागतं व्याजहार ॥ ४ ॥

सञ्जी०—प्रत्यासन्न इति। स यक्षः। यश्चिरं दध्यौ स इत्यर्थः। नभसि श्रावणे। 'नभः खं श्रावणो नभाः' इत्यमरः। प्रत्यासन्न आषाढस्यानन्तरं सन्निकृष्टे। प्राप्ते सतीत्यर्थः। दयिताजीवितालम्बनार्थी सन्। वर्षाकालस्य विरहदुःखजनकत्वात् 'उत्पन्नानर्थप्रतीकारादनर्थोत्पत्तिप्रतिबन्ध एव वरम्' इति न्यायेन प्रागेव प्रियाप्राणधारणोपायं चिकीर्षुरित्यर्थः। जीवनस्योदकस्य मूतः पटबन्धो जीमूतः। पृषोदरादित्वात्साधुः। 'मूतः स्यात्पटबन्धेऽपि' इति रुद्रः। तेन जीमूतेन जलधरेण प्रयोज्येन स्वकुशलमयीं स्वक्षेमप्रधानां प्रवृत्तिं वार्ताम्। 'वार्ता प्रवृत्तिर्वृत्तान्तः' इत्यमरः। हारयिष्यन्प्रापयिष्यन्। 'लृट् शेषे च' इति चकारात्क्रियोपपदाल्लृट्प्रत्ययः। जीवनार्थं कर्म जीवनप्रदेनैव कर्तव्यमिति भावः। 'हृक्रोरन्यतरस्याम्' इति कर्मसंज्ञायां विकल्पाद् पक्षे कर्तरि तृतीया। प्रत्यग्रैरभिनवैः कुटजकुसुमैर्गिरिमल्लिकाभिः। 'कुटजो गिरिमल्लिका' इति हलायुधः। कल्पितार्घाय कल्पितोऽनुष्ठितोऽर्घः पूजाविधिर्यस्मै तस्मै 'मूल्ये' पूजाविधावर्घः' इत्यमरः। तस्मै जीमूताय। 'क्रियाग्रहणमपि कर्तव्यम्' इति सम्प्रदानत्वाच्चतुर्थी। प्रीतिप्रमुखानि प्रीतिपूर्वकाणि वचनानि यस्मिन्कर्मणि तत्प्रीतिप्रमुखवचनं यथा तथा। शोभनमागतं स्वागतं स्वागतवचनं प्रीतः सन् व्याजहार। कुशलागमनं पप्रच्छेत्यर्थः। नाथेन त्वत्र 'प्रत्यासन्ने मनसि' इति साधीयान्पाठः कल्पितः। प्रत्यासन्ने प्रकृतिमापन्ने सतीत्यर्थः। यस्तु तेनैव पूर्वपाठविरोधः प्रदर्शितः सोऽस्माभिः 'आषाढस्य प्रथमदिवसे' इत्येतत्पाठविकल्पसमाधानेनैव समाधाय परिहृतः ॥ ४ ॥

चारि०—विचारानन्तरं किमकरोदित्याह—

प्रत्यासन्न इति। जीमूतेन मेघेन स्वस्यात्मनः कुशलं क्षेमं तद्रूपां प्रवृत्तिं वार्तां प्रापयितुं प्रीतः सम्पादितसत्कारोऽसौ मत्कार्यं सम्पादयिष्यतीति सन्तुष्टः सन् स यक्षस्तस्मै मेघाय स्वागतं शोभनमागमनं ते इति व्याजहार। प्रपच्छ। कीदृशं,

प्रीत्या स्नेहेन प्रमुखं श्रेष्ठं वचनं यत्र तत् तद्यथा। माङ्गल्यवत् कुशलं तवेत्यादि। कीदृशाय तस्मै प्रत्यग्रैर्नवीनैः कुटजानां गिरिमल्लिकानां कुसुमैः कल्पितो दत्तोऽर्घः पूजाविधिर्यस्य स तस्मै। कीदृशः नभसि श्रावणे मासि प्रत्यासन्ने निकटस्थिते सति दयिता कान्ता तस्या जीवितं जीवनं तस्याऽवलम्बनं धारणं तदर्थयते। प्रत्यासन्ने मनसीति पाठे ध्यानव्याकुलिते चेतसि पुनः प्रतिष्ठिते सतीत्यर्थः। क्वापि जीवितालम्बनार्थामिति पाठस्तत्र जीवितालम्बनमर्थः प्रयोजनं यस्या इति प्रवृत्तिविशेषणम्। तपात्ययस्य सन्निधानत्वेन निजनिधनशङ्कया सापि मरिष्यतीति स्वप्रवृत्तिं मेघेन प्रापयितुं पूजापूर्वं तस्मै स्वागतमप्राक्षीदित्यर्थः। 'नभः खं श्रावणो नभा'—इत्यनेकार्थः। 'नभाः श्रावणिकश्च स' इत्यमरः। 'वार्त्ता प्रवृत्तिर्वृत्तान्त' इत्यभिधानचिन्तामणिः। 'कुटजो गिरिमल्लिके'ति हलायुधः। तस्मा इति। चतुर्थी चाशिष्यायुष्येति चतुर्थी ॥ ४ ॥

भाव०—सन्निकटे श्रावणमासे विरहातुरायाः स्वप्रेयस्या जीवनरक्षाऽभिलाषी जलदद्वारा तत्समीपे स्वकुशलवार्त्तां प्रापयितुकामः स यक्षो नवीनैः कुटजकुसुमैरादौ तस्मै (मेघाय) अर्घं प्रकल्प्य ततः प्रियया वाचा स्वागतमवोचत ॥ ४ ॥

सौ०—किसी प्रकार आषाढ़के अनन्तर श्रावणके सन्निकट आने पर अपनी भार्या के जीवनकी अभिलाषा करनेवाले उस यक्षने अपने कुशल समाचारको मेघद्वारा दयिता के समीप भेजना चाहा। अतः उसने पर्वतोंपर उत्पन्न हुई नवीन चमेलियों से मेघका पूजन किया। प्रीतिपूर्वक वचनोंसे स्वागत करके मेघसे कुशल प्रश्न किया ॥ ४ ॥

ननु चेतनसाध्यमर्थं कथमचेतनेन कारयितुं प्रवृत्त इत्यपेक्षायां कविः समाधत्ते—

धूमज्योतिःसलिलमरुतां सन्निपातः क्व मेघः
सन्देशार्थाः क्व पटुकरणैः प्राणिभिः प्रापणीयाः।
इत्यौत्सुक्यादपरिगणयन्गुह्यकस्तं ययाचे
कामार्ता हि प्रकृतिकृपणाश्चेतनाचेतनेषु ॥ ५ ॥

सञ्जी०—धूमेति। धूमश्च ज्योतिश्च सलिलं च मरुद्वायुश्च तेषां सन्निपातः सङ्घातो मेघः क्व। अचेतनत्वात्सन्देशानर्ह इत्यर्थः। पटुकरणैः समर्थेन्द्रियैः। 'करणं साधकतमं क्षेत्रगात्रेन्द्रियेष्वपि' इत्यमरः। प्राणिभिश्चेतनैः। 'प्राणी तु चेतनो जन्मी' इत्यमरः। प्रापणीयाः प्रापयितव्याः सन्दिश्यन्त इति संदेशास्त एवार्थाः क्व। इत्येवमौत्सुक्यादिष्टार्थोद्युक्तत्वात्। 'इष्टार्थोद्युक्त उत्सुकः' इत्यमरः। अपरिगणयन्नविचारयन् गुह्यको यक्षस्तं मेघं ययाचे याचितवान्। 'याचृ याच्ञायाम्'। तथा हि। कामार्ता मदनातुराश्चेतनाश्चाचेतनाश्च तेषु विषये प्रकृतिकृपणाः स्वभावदीनाः। कामान्धानां युक्तायुक्तविवेकशून्यत्वाच्चेतनाचेतनायाच्ञा न विरुध्यत इत्यर्थः। अत्र मेघ-

सन्देशयोर्विरूपयोर्घटनाद्विषमालङ्कारः। तदुक्तम्—'विरुद्धकार्यस्योत्पत्तिर्यत्रानर्थस्य वा भवेत्। विरूपघटना चासौ विषमालङ्कृतिस्त्रिधा।' इति, सा चार्थान्तरन्यासानुप्राणिता तत्समर्थकत्वेनैव चतुर्थपादे तस्योपन्यासात् ॥ ५ ॥

चारि०—मेघस्य निश्चेतनत्वात्प्रार्थना न युक्तेत्याशङ्कयाह—

धूमज्योतिरिति। धूमश्च ज्योतिरग्निः स च सलिलं पानीयं च मरुतश्च तेषामचेतनानां सन्निपातः समुदायरूपो मेघः क्व। पटूनि स्पष्टानि करणानीन्द्रियाणि येषां ते तैः प्राणिभिः पुम्भिः सचेतनैः प्रापणीया नेतव्याः सन्दिश्यन्ते कथ्यन्ते इति सन्देशाः ते च ते अर्थाश्च क्व। इत्येतदसम्भाव्यमिति। औत्सुक्यं विरहपीडा तस्मादपरिगणयन् अविचारयन् गुह्यको यक्षस्तं घनं ययाचे। प्रार्थितवान्। अचेतनं मेघं किमिति प्रार्थयाञ्चक्रे इत्याशङ्कामर्थान्तरन्यासेन निरस्यति—कामेन मन्मथेनार्ताः पीडिताः प्राणिनश्चेतनाश्चाचेतनाश्च ते स्थावरजङ्गमास्तेषु प्रकृत्या स्वभावेन कृपणा दीना भवन्ति। यथा सीतादिवियोगात्कामसंमोहिता रामप्रमुखा अचेतनं न वाच्यमिति विवेक्तुमसमर्थाः। तथाऽसावपीत्यर्थः।

नन्वत्र यक्षगुह्यकयोरभावात्तयोर्भेदाद्यक्षश्चक्र इति गुह्यकस्तं ययाच इति। एतदसङ्गतिमब्रवीति चेन्नैवम्। निधिगूहनाद्रक्षणादगुह्यक इति यक्ष इति च अन्वर्थसंज्ञाकरणाद्यक्षगुह्यकौ धनदेऽपीति यादवाभिधानात्। धनदवाचकेन गुह्यकशब्देन तस्यानुचरस्याप्युपचारेणाभिधानम् ॥ ५ ॥

भाव०—धूमानलजलानिलानां समष्टिरूपोऽचेतनाऽम्भोदः क्व? चेतनैश्चतुरैर्नरैः प्रापणार्हाः सन्देशाः क्व एतत्सर्वमौत्सुक्यादविचारयन् स यक्षोऽम्भोधरं प्रार्थितवान्। मदनातुराहि स्वभावतश्चेतनाचेतनयोर्विचारशून्या भवन्ति ॥ ५ ॥

सौ०—धूम्र, अग्नि, जल और पवन के संघातसे (संयोगसे) उत्पन्न मेघ कहाँ? समर्थेन्द्रिय (कुशल) व्यक्तिद्वारा प्रेषणीय सन्देश कहाँ? किन्तु वियोगावस्थामें उत्कण्ठाके कारण उस यक्षने इन पर विचार ही न किया और मेघसे सन्देशवहन करनेकी प्रार्थना की। ठीक ही है—कामाधीन व्यक्ति प्रायः उस समय स्वभाव से ही उचित और अनुचित (चेतन और अचेतन) का विचार नहीं करते हैं ॥ ५ ॥

सम्प्रति याञ्चाप्रकारमाह—

जातं वंशे भुवनविदिते पुष्करावर्तकानां
जानामि त्वां प्रकृतिपुरुषं कामरूपं मघोनः।
तेनार्थित्वं त्वयि विधिवशाद् दूरबन्धुर्गतोऽहं
याञ्चा मोघा वरमधिगुणे नाधमे लब्धकामा ॥ ६ ॥

सञ्जी०—जातमिति। हे मेघ, त्वां भुवनेषु विदिते। 'निष्ठा' इति भूतार्थे क्तः। मतिबुद्धि—' इत्यादिना वर्तमानार्थत्वे तु 'क्तस्य च वर्तमाने' इति भुवनशब्दस्य

षष्ठयन्ततानियमात्समासो न स्यात्। 'क्तेन च पूजायाम्' इति निषेधात्। पुष्करावर्तकाश्च केचिन्मेघानां श्रेष्ठास्तेषां वंशे जातम्। महाकुलप्रसूतमित्यर्थः। कामरूपमिच्छाधीनविग्रहम्। दुर्गादिसञ्चारक्षममित्यर्थः। मघोन इन्द्रस्य प्रकृतिपुरुषं जानामि। तेन महाकुलप्रसूतत्वादिगुणयोगित्वेन हेतुना विधिवशाद् दैवायत्तत्वात्। 'विधिर्विधाने दैवे च' इत्यमरः। 'वशमायत्तं, वशमिच्छाप्रभुत्वयोः' इति विश्वः। दूरे बन्धुर्यस्य स दूरबन्धुर्वियुक्तभार्योऽहं त्वय्यर्थित्वं गतः। ननु याचकस्य याञ्चायां याच्यगुणोत्कर्षः कुत्रोपयुज्यत इत्याशङ्क्य—दैवाद्याञ्चाभङ्गेऽपि लाघवदोषाभाव एवोपयोग इत्याह—याञ्चेति। तथा हि—अधिगुणे पुंसि विषये याञ्चा मोघा निष्फलापि वरमीषत्प्रियम्। दातुर्गुणाढ्यत्वात्प्रियत्वं याञ्चावैफल्यादीषत्प्रियत्वमिति भावः। अधमे निर्गुणे याञ्चा लब्धकामापि सफलापि न वरम्। ईषत्प्रियमपि न भवतीत्यर्थः। 'देवाद्वृते वरः श्रेष्ठे त्रिषु क्लीबं मनाक्प्रिये' इत्यमरः। अर्थान्तरन्यासानुप्राणितः। प्रेयोऽलङ्कारः। तदुक्तं दण्डिना—'प्रेयः प्रियतराख्यानम्' इति। एतदाद्ये पादत्रये चतुर्थपादस्येनार्थान्तरन्यासेनोपजीवितमिति सुव्यक्तमेतत्॥

चारि०—स्तुतिपूर्वं प्रार्थनां विधत्ते—

जातमिति। भो जलद! पुष्करावर्तकाश्च कल्पान्तकालजलदास्तेषां वंशेऽन्वये जातमुत्पन्नं जानामि। अवगच्छामीत्यनेनाभिजातं प्रसिद्धम्। कीदृशं त्वां कामरूपं स्वेच्छाचारिणम्। तथा मघोन इन्द्रस्य प्रकृतिपुरुषम्। तेन हेतुना विधिः दैवं तस्य वशं आधीनं तस्माद् दूरबन्धुविप्रकृष्टभार्योऽहं त्वां प्राप्तः। तर्ह्यचेतनं किमिति प्रार्थितवानित्याशङ्क्याह—यतो याञ्चाऽधिगुणेऽधिका औदार्यादयो गुणा यस्य सोऽधिगुणस्तस्मिन्। मोघा निरर्थकापि वरं प्रियम्। 'देवाद्वृते वरः श्रेष्ठे त्रिषु क्लीबं मनाक्प्रिय' मिति यादवः। अधमे गुणरहिते लब्धकामा-प्राप्ताभिलाषापि सा वरं न। वंश इत्यत्र जनिकर्तुः प्रकृतिरित्यपादानसंज्ञायां पञ्चमी स्यादिति न, वंशस्योत्पत्तिरूपत्वेन प्रकृतित्वाभावात्॥ ६॥

भाव०—हे जलद! प्रलयकालिकपुष्करावर्त्तकाह्वमेघवंशे त्वं समुत्पन्नोऽसि। अपि च सुरपतेः प्रधानपुरुषोऽसीत्यपि वेद्मि। तेन कारणेन दूरस्थितकलत्रोऽहं संप्रति सत्कुलजं त्वां प्रार्थये। यतः सुयोग्ये पुरुषे कृता प्रार्थना निष्फला सत्यपि वरम्, अयोग्ये सफलाऽपि न वरम्॥ ६॥

सौ०—हे मेघ! आपका जन्म लोकप्रसिद्ध पुष्कर और आवर्त्तक नामक मेघोंके कुलमें हुआ है। आप इन्द्रके प्रधान पुरुष हैं। आप स्वेच्छासे अपने रूपको परिणत करनेवाले हैं। अतः मैं आपके समीप अर्थित्व को प्राप्त हुआ हूँ। भाग्यवश मैं भार्याविरही हूँ। श्रेष्ठके प्रति की गयी याचना विफल होने पर भी सफल है और अधम के प्रति की गयी प्रार्थना सफल होनेपर भी निष्फल है॥ ६॥

संतप्तानां त्वमसि शरणं तत्पयोद ! प्रियायाः
सन्देशं मे हर धनपतिक्रोधविश्लेषितस्य ।
गन्तव्या ते वसतिरलका नाम यक्षेश्वराणां
बाह्योद्यानस्थितहरशिरश्चन्द्रिकाधौतहर्म्या ॥ ७ ॥

सञ्जी०—सन्तप्तानामिति । हे पयोद ! त्वं सन्तप्तानामातपेन वा प्रवासविरहेण वा सञ्ज्वरितानाम् । 'सन्तापः सञ्ज्वरः समौ' इत्यमरः । शरणं पयोदानेनातपस्विन्नानां स्वस्थानप्रेरणया च रक्षकोऽसि । 'शरणं गृहरक्षित्रोः' इत्यमरः । तत्तस्मात्कारणाद्धनपतेः कुबेरस्य क्रोधेन विश्लेषितस्य प्रियया वियोजितस्य मे मम सन्देशं वार्तां प्रियाया हर । प्रियां प्रति नयेत्यर्थः । सम्बन्धसामान्ये षष्ठी । सन्देशहरणेनावयोः सन्तापं नुदेत्यर्थः । कुत्र स्थाने सा स्थिता तत्स्थानस्य वा किं नाम तत्राह—गन्तव्येति । बहिर्भवं बाह्यम् । 'बहिर्देवपञ्चजनेभ्यश्च' इति यञ् । बाह्यउद्याने स्थितस्य हरस्य शिरसि या चन्द्रिका तया धौतानि निर्मलानि हर्म्याणि धनिकभवनानि यस्यां सा तथोक्ता । 'हर्म्यादि धनिनां वासः' इत्यमरः । अनेन व्यावर्तकत्वमुक्तम् । अलका नामालकेति प्रसिद्धा । यक्षेश्वराणां वसतिः स्थानं ते तव गन्तव्या । त्वया गन्तव्येत्यर्थः । 'कृत्यानां कर्तरि वा' इति षष्ठी ॥ ७ ॥

चारि०—का यौष्माकीणा प्रार्थनेत्यपेक्षायामाह—

सन्तप्तानामिति । पयो जलं ददातीति पयोदस्तत्सम्बुद्धिः । आतपेन स्मरेण च सन्तप्तानां पीडितानां प्राणिनां त्वं शरणमाश्रयोऽसि भवसि । तत्तस्माद्धेतोर्धनपतेः कुबेरस्य कोपेन क्रोधेन विश्लेषितस्य वियोजितस्याऽनेन स्वकीयः सन्तापो दर्शितः । मे यक्षस्य प्रियायाः सन्देशं वार्तां हर प्रापय । सा क्वास्ते तत्स्थानस्य किमभिधानं किं लक्षणमित्याशङ्क्याह—ते तवालकाभिधा पुरी नाम नामेति प्रसिद्धौ चाव्ययम् । यक्षेश्वराणां यक्षश्रेष्ठानां वसतिः स्थानं गन्तव्या यातव्या । कीदृशी, बहिर्भवं बाह्यं बाह्यं च तदुद्यानं कैलासोपवनं तत्र स्थितश्चासौ हर ईशश्च तस्य शिरसि मूर्धनि चन्द्रिका चन्द्रातपस्तया धौतानि धवलितानि हर्म्याणि गृहाणि यस्याः सा । कैलासस्थस्य हरस्याऽलकोद्यानवर्त्तित्वं केऽप्याहुः कैलासक्रोडस्थिताया अलकाया बहिर्निःसरणप्रदेश उद्यानं तत्रेत्यनेन स्थानस्य लक्षणमभिहितम् । यक्षेश्वराणामिति बहुवचनेन तत्रस्थानां धनदसाम्यं सूचितम् । त इति कृत्यानां कर्तरि वेति षष्ठी ॥७॥

भाव०—किं च हे मेघ ! त्वं संतप्तहृदयानां संतापनिवारणक्षमोऽसि तस्मात् कुबेरशापात् प्रियाविप्रयुक्तस्य मे सन्देशं प्रियां प्रति नय । बाह्योद्यानस्थितस्य शिवस्य शिरःस्थितचन्द्रज्योत्स्नया प्रकाशितहर्म्यतला यक्षेश्वराणामावासभूमिरलका नाम्नी पुरी तव गन्तव्याऽस्ति ॥ ७ ॥

सौ०—हे मेघ ! आप सन्तप्त जीवोंको शरण देनेवाले हैं। अर्थात्—जो घामसे दुःखी

हैं अथवा जो प्रवास-विरहसे दुःखी हैं, उन्हें यथाक्रम जल से और स्वस्थान जानेकी प्रेरणा करके रक्षक हैं। मैं भी भगवान कुवेरके रोषसे पियाविरही हूँ। अतः मेरे सन्देशको मेरी विरहिणी प्रिया के समीप ले जाइये। मेरी प्रियतमा यक्षेश्वरों नगरी अलकापुरी में निवास करती है जिस पुरी के बाहरी उद्यानमें विराजमान शिवजीके शिरकी चन्द्रिका (चाँदनी) से वहाँके धनिकोंके गृह सदा देदीप्यमान रहते हैं॥ ७

त्वामारूढं पवनपदवीमुद्गृहीतालकान्ताः
प्रेक्षिष्यन्ते पथिकवनिताः प्रत्ययादाश्वसन्त्यः।
कः संनद्धे विरहविधुरां त्वय्युपेक्षेत जायां
न स्यादन्योऽप्यहमिव जनो यः पराधीनवृत्तिः॥ ८॥

सञ्जी०—त्वामिति। पवनपदवीमाकाशमारूढं त्वाम् पन्थानं गच्छन्ति ते पथिकाः। 'पथः ष्कन्' इति ष्कन्प्रत्ययः तेषां वनिताः प्रोषितभर्तृकाः। प्रत्ययात्प्रियागमनविश्वासात् 'प्रत्ययोऽधीनशपथज्ञानविश्वासहेतुषु' इत्यमरः। आश्वसत्यो विश्वसिताः श्वसधातोः शत्रन्तात् 'उगितश्च' इति ङीप्। तथोद्गृहीतालकान्ता दृष्टिप्रसारार्थमुन्नमय्य धृतालकाग्राः सत्यः प्रेक्षिष्यन्ते। अस्युत्कण्ठया द्रक्ष्यन्तीत्यर्थः। मदागमनेन पथिकाः कथमागमिष्यन्तीत्यत्राह—तद्यथा—त्वयि सन्नद्धे व्यापृते सति विरहेण विधुरां जायां क उपेक्षेत। न कोऽपीत्यर्थः अन्योऽपि यद्व्यतिरिक्तोऽपि यो जनः, अहमिव पराधीनवृत्तिः परायत्तजीवनो न स्यात्। स्वतन्त्रस्तु न कोऽप्युपेक्षेतेति भावः। अत्रार्थान्तरन्यासोऽलङ्कारः तदुक्तम्—'कार्यकारणसामान्यविशेषाणां परस्परम्। समर्थनं यत्र सोऽर्थान्तरन्यास उदाहृतः॥' इति लक्षणात्॥ ८॥

चारि०—तव गमनेन न केवलं ममैवाश्वासः किं त्वन्यस्यापि लोकस्येत्याह—

त्वामारूढमिति। भो मेघ! पथिकानामध्वगानां वनिताः स्त्रियः पवनस्य वातस्य पदवीं सरणिं गगनमारूढं त्वां भवन्तं प्रेक्षिष्यन्ते विलोकयिष्यन्ति। कीदृश्यः वर्षतौ भर्त्तारः समेष्यन्तीति प्रत्ययो विश्वासस्तस्मादाश्वसन्त्यः। स्वस्थभावं भजन्त्यः। तथोद्गृहीताः उपरिष्टात्कृताः अलकानां चूर्णकुन्तलानाम् अन्ताः अञ्चलो याभिस्ताः एतमेवार्थं प्रकटयति-त्वयि सन्नद्धे समागते सति विरहेण वियोगेन विधुरां जायां पत्नीं क उपेक्षेत न गच्छेत्। योऽन्योऽपि पृथग्जनोऽहमिव पराधीना परवशा वृत्तिः वर्त्तनं यस्य स तथाविधो न स्यात्। आश्वसन्त्य इत्यत्र न नुमभावः। यत्र जनकार्य्यस्यानित्यत्वमपेक्ष्यैव स्वरूपसिद्धिस्तत्रैव तदाश्रयणं युक्तम्। नान्यत्रेति नियमात्। उपेक्षेति। ईक्ष दर्शने। 'प्रत्ययोऽधीनशपथज्ञानविश्वासहेतुषु'। 'वृत्तिर्वर्त्तनजीवने' इत्यमरः॥ ८॥

भाव०—हे जलद ! आकाशस्थितं त्वां प्रोषितभर्तृकाः स्त्रियः स्वचूर्णकुन्तलान्तमुद्गृह्य वर्षर्तुसंभवाद्द्रुतं भर्त्तारो नः समागमिष्यन्तीति समाश्वसन्त्यः 'औत्कण्ठ्येन विलोकयिष्यन्ति। परतन्त्रमेकं मां त्यक्त्वा त्वयि समागते सति कोऽन्यो विरहकातरां स्वप्रियामुपेक्षेत ॥ ८ ॥

सौ०—हे मेघ ! आकाशमें व्याप्त आपको, प्रोषितभर्तृकाएँ (परदेश गये हुए पुरुषोंकी, रमणियाँ) अपने रमणोंके आनेकी प्रत्याशाके विश्वाससे अपने बिखरे हुए बालोंको हाथोंसे पकड़कर देखेंगी। आपके (मेघके) आगमनपर मेरे सदृश पराधीनवृत्तिवालेको छोड़कर, भला, कौन ऐसा होगा जो अपनी वियोगसे व्याप्त भार्याकी उपेक्षा करेगा ? कोई नहीं ॥८॥

निमित्तान्यपि ते शुभानि दृश्यन्त इत्याह—

मन्दं मन्दं नुदति पवनश्चानुकूलो यथा त्वां
वामश्चायं नदति मधुरं चातकस्ते सगन्धः।
गर्भाधानक्षणपरिचयान्नूनमाबद्धमालाः
सेविष्यन्ते नयनसुभगं खे भवन्तं बलाकाः ॥ ९ ॥

सञ्जी०—मन्दं मन्दमिति। अनुकूलः पवनो वायुस्त्वां मन्दं मन्दम्। अतिमन्दमित्यर्थः। अत्र कथञ्चिद्वीप्सायामेव द्विरुक्तिर्निर्वाह्या। 'प्रकारे गुणवचनस्य' इत्येतदाश्रयणे तु कर्मधारयवद्भावे सुब्लुकि मन्दमन्दमिति स्यात् तदेवाह वामनः— 'मन्दं मन्दमित्यत्र प्रकारार्थे द्विर्भाव'इति। यथा सदृशम्। भाविफलानुरूपमित्यर्थः। 'यथा सादृश्ययोग्यत्ववीप्सास्वार्थानतिक्रमे' इति यादवः। नुदति प्रेरयति। अयं सगन्धः सगर्वः। सम्बन्धीति केचित्। 'गन्धो गन्धक आमोदे लेशे सम्बन्धगर्वयोः' इत्युभयत्रापि विश्वः। ते तव वामो वामभागस्थः। 'वामस्तु वक्रे रम्ये स्यात्सव्ये वामगतेऽपि च' इति शब्दार्णवे। चातकः पक्षिविशेषश्च मधुरं श्रव्यं नदति व्याहरति। इदं निमित्तद्वयं वर्तते। वर्तिष्यते चापरं निमित्तमित्याह—गर्भेति। गर्भः कुक्षिस्थो जन्तुः 'गर्भोपकारके भ्रूणे मुखे पनसकण्टके। कुक्षौ कुक्षिस्थजन्तौ च' इति यादवः। तस्याधानमुत्पादनं तदेव क्षण उत्सवः सुखहेतुत्वादिति भावः। 'निर्व्यापारस्थितौ कालविशेषोत्सवयोः क्षणः' इत्यमरः। तस्मिन् परिचयादभ्यासाद्धेतोः खे व्योम्नि। आबद्धमालाः। गर्भाधानसुखार्थं त्वत्समीपे बद्धपङ्क्तय इत्यर्थः उक्तं च कर्णोदये—'गर्भं बलाका दधतेऽभ्रयोगान्नाके निबद्धावलयः समन्ताद्'इति। बलाका बलाकाङ्गनाः नयनसुभगं दृष्टिप्रियं भवन्तं नूनं सत्यं सेविष्यन्ते। अनुकूलमारुतचातकशब्दितबलाकादर्शनानां शुभसूचकत्वं शकुनशास्त्रदृष्टं तद्विस्तरभयान्नालेखि ॥ ९ ॥

चारि०—साम्प्रतं स्वानुकूलशकुनच्छद्मना स्वरागमनाय जलदं प्रोत्साहयति—

मन्दमिति–ओ मेघ ! यथानुकूलः पृष्ठप्रदेशानुगामी पवनो वातस्त्वां भवन्तं मन्दं मन्दं शनैर्नुदति, प्रेरयति, तथा चोक्तम्–'मृदुरनुकूलश्च यदा भवति तदा यातुः सुखावहः कथित' इति। तथा सगर्वः साभिमानस्ते तव वामो वामस्थितोऽयं चातको मधुरं प्रदीप्तस्वरं यथा तथा नदति शब्दं करोति। नद अव्यक्ते शब्दे। उक्तं च—'मृगाः पक्षिणश्च यातुर्वामाः कामदा' इति। किं च गर्भस्य कुक्षिस्थितस्य जन्तोराधानं धारणं तस्मिन्क्षणे समये परिचयः सङ्गस्तस्मादाबद्धा माला याभिस्ता बलाका विसकण्ठिकाः खे गगने नयनयोः सुभगं मनोहरं भवन्तं नूनं निश्चितं सेविष्यन्ते आश्रयिष्यन्ते। पवनश्चेति चकारेण निमित्तान्तरं चातकानुकूल्यं द्योत्यते। द्वितीयश्चकार उक्तसमुच्चयार्थः। नुदतीति वर्तमानसामीप्ये लट्। मन्दं मन्दमित्येकं पदम्। 'गर्भोपकारके ह्यग्नौ मुखे पनसकण्टके। कुक्षौ कुक्षिस्थजन्तौ चे'ति यादवः। 'चातकः स्तोकको‌ऽम्बुवीहः सारङ्गो नभोऽम्बुप' इत्यभिधानचिन्तामणिः॥९॥

भाव—एष एव हि ते यात्रायाः शुभसमयोऽपि, तद् यथा—अनुकूलः पृष्ठप्रदेशानुगो वायुस्त्वां शनैः शनैः प्रेरयति, साभिमानश्चातकोऽपि ते वामभागस्थः सन् मधुरशब्दं करोति। किंच नेत्रमनोहरं त्वामिमा बलाका गर्भाधानोत्सवसंगता आकाशे बद्धपङ्क्तयः सेविष्यन्ते॥ ९॥

सौ०—हे मेघ ! यही आपके जानेका शुभ अवसर है। क्योंकि, देखिये कि, यह मन्द-मन्द पवन आपके अनुकूल प्रेरणा कर रहा है। आपके वाम भागमें सगर्व चातक पक्षी मधुर-मधुर कूजन कर रहा है। साथ ही बलाकांगनाएँ, गर्भाधानके उत्सवसुखके क्षणसे परिचित होकर, श्रेणीबद्धरूपमें, नेत्रोंको मनोहर लगनेवाले आपकी अवश्य सेवा करेंगी॥

न च तस्या नाशाद् मतस्खलनाद्वा निरर्थकस्त्वत्प्रयास इत्याह—

तां चावश्यं दिवसगणनातत्परामेकपत्नी-
मव्यापन्नामविहतगतिर्द्रक्ष्यसि भ्रातृजायाम्।
आशाबन्धः कुसुमसदृशं प्रायशो ह्यङ्गनानां
सद्यःपाति प्रणयि हृदयं विप्रयोगे रुणद्धि॥ १०॥

सञ्जी०—तां चेति। हे मेघ! दिवसानामवशिष्टदिनानां गणनायां सङ्ख्याने तत्परामासक्ताम्। 'तत्परे प्रसितासक्तौ' इत्यमरः। अत एवाव्यापन्नाममृताम्। शापावसाने मदागमनप्रत्याशया जीवन्तीमित्यर्थः। एकः पतिर्यस्याः सैकपत्नी ताम्। पतिव्रतामित्यर्थः। 'नित्यं सपत्न्यादिषु' इति ङीप् नकारश्च। भ्रातुर्मे जायां भ्रातृवन्निःशङ्कं दर्शनीयामित्याशयः तां मत्प्रियामविहतगतिरविच्छिन्नगतिः सन्नवश्यं द्रक्ष्यसि चालोकयिष्यस्येव। तथा हि। आशाऽतितृष्णा। 'आशा दिग तितृष्णयोः' इति यादवः। बध्यतेऽनेनेति बन्धो बन्धनम्। वृन्तमिति यावत्। आशैव बन्ध आशाबन्धः कर्ता। अनपि प्रेमयुक्तम्। अत एव कुसुमसदृशम्। सुकुमारमि-

त्यर्थः। अत एव विप्रयोगे विरहे सद्यःपाति सद्योभ्रंशनशीलमङ्गनानां हृदयं जीवितम्। 'हृदयं जीविते चित्ते वक्षस्याकूतहृद्ययोः' इति शब्दार्णवे। प्रायशः प्रायेण रुणद्धि प्रतिबध्नाति। अर्थान्तरन्यासः॥ १०॥

चारि०—तामिति—हे मेघ! तां भ्रातृजायां भ्रातुर्मे नियमवश्यं निश्चितं द्रक्ष्यसि विलोकयिष्यसि। कीदृशस्त्वम्, अविहताऽविच्छिन्ना गतिर्गमनं यस्य स तथा। कीदृशीं, दिवसगणना एकद्वयादिसङ्ख्यानं तत्र तत्परां सावधानां तां प्रोषितस्य मद्वल्लभस्येयन्तो वासरा गता इयन्तोऽवशिष्टा इति गणयन्तीमित्यर्थः। एतेन मद्विरहे सा न परासुर्भवितेति वियोगावधेर्नियतत्वात्। नत्वन्यरक्ता भविष्यतीत्याशङ्क्याह—एकः पतिर्यस्याः सा ताम्। अथवा एकाऽसपत्नीका चासौ पत्नी यज्ञसंयोगार्हा चेति कर्मधारयः। 'पत्युर्नो यज्ञसंयोगे' कदाचिद्विरहे विपन्ना स्यादित्याह—पुनः किंविधाम्-अव्यापन्नाम् अत्यक्तप्राणाम्। त्वया कथं ज्ञातं तदाह—हि यतः प्रायशो बाहुल्येन आशाबन्धो विप्रयोगे वियोगे विश्लेषे सद्यःपाति तत्क्षणादेव पतनशीलम् अङ्गनानां हृदयं रुणद्धि किंविधं—कुसुमसदृशं पुष्पवत्सुकुमारं, पुनः किंविधं प्रणयि प्रणययुक्तम्। 'एके मुख्यान्यकेवला' इत्यमरः। अथ चोक्तिः। यथा आशाबन्धः मर्कटवासकः सद्यःपाति कुसुमं रुणद्धि। 'आशाबन्धः समाश्वासे तथा मर्कटवासके' इति मेदिनीकारः॥ १०॥

भा०—हे मेघ! तत्र गतस्त्वं विरहावशिष्टदिनानि गणयन्तीं पतिव्रतां सपत्नीशून्यां जीवन्तीं मे प्रियामविच्छिन्नगतिर्द्रक्ष्यसि। विरहे तत्क्षणभङ्गुरमपि स्त्रीणां चेतः प्रियपुनरागमनाशाबन्ध एव रुणद्धि॥ १०॥

सौ०—हे मेघ! मेरे विरहके अवशिष्ट दिवसोंकी गणना में संलग्ना अतः जीविता तथा पतिव्रता अपनी भाभी (भ्रातृजाया) को आप माताके सदृश सर्वत्र गमन करने की गति से अवश्य देखेंगे क्योंकि—प्रायः अङ्गनाओंका वियोगमें शीघ्र नष्ट होनेवाला, प्रेममय हृदय पुष्प के सदृश मृदु होता है। वही हृदय वियोगावस्थामें आशारूपी बन्धनसे बँधा होनेसे बचा रहता है॥ १०॥

सम्प्रति सहायसम्पत्तिश्चास्तीत्याह—

कर्तुं यच्च प्रभवति महीमुच्छिलीन्ध्रामबन्ध्यां
तच्छ्रुत्वा ते श्रवणसुभगं गर्जितं मानसोत्काः।
आ कैलासाद्बिसकिसलयच्छेदपाथेयवन्तः
सम्पत्स्यन्ते नभसि भवतो राजहंसाः सहायाः॥ ११॥

सञ्जी०—कर्तुमिति। यद् गर्जितं कर्तृ महीमुच्छिलीन्ध्रामुद्भूतकन्दलिकाम्। 'कन्दल्यां च शिलीन्ध्रः स्यात्' इति शब्दार्णवः। अत एवाबन्ध्यां सफलां कर्तुं प्रभवति शक्नोति शिलीन्ध्राणां भाविसस्यसम्पत्तिसूचकत्वादिति भावः तदुक्तं

निमित्तनिदाने-'कालाभ्रयोगादुदिताः शिलीन्ध्राः सम्पन्नसस्यां कथयन्ति धात्रीम्' इति। तच्छ्रवणसुभगं श्रोत्रसुखम्। लोकस्येति शेषः। ते तव गर्जितं श्रुत्वा मानसोत्का मानसे सरस्युन्मनसः। उत्सुका इति यावद्। 'उत्क उत्सुक उन्मनाः' इति निपातात्साधुः। कालान्तरे मानसस्य हिमदुष्टत्वाद्धिमस्य च हंसानां रोगहेतु-त्वादन्यत्र गता हंसाः पुनर्वर्षासु मानसमेव गच्छन्तीति प्रसिद्धिः। बिसकिसलयानां मृणालाग्राणां छेदैः शकलैः पाथेयवन्तः। पथि साधु पाथेयं पथि भोज्यम्। 'पथ्य-तिथिवसतिस्वपतेर्ढञ्' । तद्वन्तः। मृणालकन्दशकलसम्बन्धवन्त इत्यर्थः। राजहंसा हंसविशेषाः। 'राजहंसास्तु ते चञ्चुचरणैर्लोहितैः सिताः' इत्यमरः। नभसि व्योम्नि भवतस्तव आ कैलासात्कैलासपर्यन्तम्। पदद्वयं चैतत्। सहायाः सयात्राः। 'सहायस्तु सयात्रः स्यात्' इति शब्दार्णवः। सम्पत्स्यन्ते भविष्यन्ति ॥ ११ ॥

चारि०—कर्तुमिति—भो मेघ! आ कैलासात् कैलासगिरिपर्यन्तं राजहंसा विमलविहङ्गमा नभसि आकाशे भवतस्तव सहायः सम्पत्स्यन्ते सार्धं भविष्यन्तिः। किंविशिष्टाः मानसोत्काः मानसं सरः प्रतिगन्तुकामाः पुनः किंविशिष्टाः-बिसानां मृणालानां किसलयानि पल्लवास्तेषां छेदैः खण्डैः पथि योग्यं पाथेयं मार्गसम्बलम्। तदेषामस्ति ते बिसकिसलयच्छेदपाथेयवन्तः। किं कृत्वा, श्रवणसुभगं श्रोत्रसुखं तद्गर्जितं स्तनितं श्रुत्वा निशम्य। तव किम् यच्च महीमुद्गतानि शिलीन्ध्राण्येव कन्दलीपत्राण्येव छत्राणि यत्र सा तादृशीं कर्तुं प्रभवति त्वयि शब्दायमाने मह्यां छत्राकाराणि शिलीन्ध्राणि विकसन्ति ॥ ११ ।

भाव०—भूमौ शिलीन्ध्रपुष्पोत्पादकं भाविसस्यसंपत्तिसूचकं ते श्रुतिमधुरं गर्जि-तमाकर्ण्य कैलासपर्यन्तं मृणालाग्रशकलपाथेययुक्ताः मानसयायिनो राजहंसास्ते सहयायिनो भविष्यन्ति ॥ ११ ॥

भाषा०—हे मेघ! आपका गर्जन पृथ्वीको सफल बनाता है। आपके गर्जनके पश्चात् पृथिवीपर कुकुरमुत्ताका फूल (छातेदार फूल जो बरसातमें फूलता है) लगता है। अर्थात्-पृथिवी आपसे अपनेको सफल करने में समर्थ होती है। आपकी वही कर्णोंको सुखकारी गर्जनाका श्रवण करके मार्गमें भोजनके लिए मृणालोंके टुकड़ोंको मुखमें लिए हुए राजहंस पक्षी मानसरोवर गमन करते हुए कैलास तक आकाशमें आपके पथके साथी होंगे ॥ ११ ॥

आपृच्छस्व प्रियसखममुं तुङ्गमालिङ्ग्य शैलं
वन्द्यैः पुंसां रघुपतिपदैरङ्कितं मेखलासु।
काले काले भवति भवतो यस्य संयोगमेत्य
स्नेहव्यक्तिश्चिरविरहजं मुञ्चतो बाष्पमुष्णम् ॥ १२ ॥

सञ्जी०—आपृच्छस्वेति। प्रियं सखायं प्रियसखम्। 'राजाहस्सखिभ्यष्टच्' इति

टच् समासान्तः। तुङ्गमुन्नतं पुंसां वन्द्यैराराधनीयै रघुपतिपदै रामपदन्यासैर्मेखलासु कटीषु 'अथ मेखला श्रोणिस्थानेऽद्रिकटके कटिबन्धने' इति यादवः। अङ्कितं चिह्नितम्। इत्थं सखित्वान्महत्त्वात्पवित्रत्वाच्च सम्भावनार्हम् अमुं शैलं चित्रकूटा-द्रिमालिङ्ग्यापृच्छस्व साधो यामीत्यामन्त्रणेन सभाजय। 'आमन्त्रणसभाजने। आप्रच्छनम्' इत्यमरः। 'आङि नुप्रच्छ्योरुपसङ्ख्यानम्' इत्यात्मनेपदम्। सखित्वं निर्वाहयति काल इति। काले काले प्रतिप्रावृट्कालम्। सुहृत्समागमकालश्च काल-शब्देनोच्यते। वीप्सायां द्विरुक्तिः। भवतः संयोगं सम्पर्कमेत्य चिरविरहजमुष्णं बाष्पमूष्माणं नेत्रजलं च। 'बाष्पो नेत्रजलोष्मणोः' इति विश्वः। मुञ्चतो यस्य शैलेयुं स्नेहव्यक्तिः प्रेमाविर्भावो भवति। स्निग्धानां हि चिरविरहसङ्गतानां बाष्प-पातो भवतीति भावः॥ १२॥

चारि०—आपृच्छस्वेति = भो मेघ! रघुपतेः श्रीरामचन्द्रस्य पदैश्चरणन्यास-मेखलासु मध्यप्रदेशेषु अङ्कितं चिह्नितं तुङ्गमुन्नतममुं शैलं रामगिरिमालिङ्ग्याश्लेषं विधायापृच्छस्व। कीदृशैः पुंसां प्राणिनां वन्द्यैर्नमस्कर्तुं योग्यैः कर्तरि षष्ठी। कीदृशं प्रियश्चासौ सखा च प्रियसखस्तम्। काले काले सर्वस्मिन् समागमसमये भवता त्वया संयोगसम्बन्धमेत्य प्राप्य यस्य पर्वतस्य स्नेहव्यक्तिः प्रेमप्रादुर्भावो भवति। कीदृशस्य चिरं विरहाद्वियोगाज्जातमुष्णमशीतलं बाष्पमूष्माणं मुञ्चतः। भवत इति पाठे कर्तरि षष्ठी। प्रियसखमिति 'राजाहः सखिभ्यष्टच्'। 'बाष्पमूष्मा च कशिपु' इत्यमरः। 'मेखला मध्यभागोऽद्रेरि'त्यभिधानचिन्तामणिः॥ १२॥

भाव०—हे मेघ! सकललोकवन्द्यश्रीरामचरणचर्चितमध्यभागं प्रतिवर्षप्रावृषि त्वत्सङ्गतौ चिरविरहसम्भवं स्नेहाभिव्यञ्जकं बाष्पं मुञ्चन्तं च पूज्यं प्रियमित्रं चामुं चित्रकूटाचलं यात्रार्थमुद्यतस्त्वं समालिङ्ग्य गमनायानुज्ञां पृच्छ॥ १२॥

सौ०—हे मेघ! आप अपने प्रिय एवं प्रतिष्ठित मित्र विशाल चित्रकूट पर्वतसे जिसका मध्यभाग लोकवन्द्य भगवान् राम के चरणों से चिह्नित हैं, आलिंगन करके जानेके विषय में अनुमति लें। जो चित्रकूट पर्वत समय-समयपर अर्थात् वर्षाऋतुमें आपका संयोग प्राप्त करके अपनी बहुत दिनोंकी विरहवेदनातप्त, आंसुओंको गिराकर व्यक्त करता है। जिससे उस पर्वत का स्नेह सुस्पष्ट देखा जाता है॥ १२॥

सम्प्रति तस्य मार्गं कथयति—

मार्गं तावच्छृणु कथयतस्त्वत्प्रयाणानुरूपं
सन्देशं मे तदनु जलद! श्रोष्यसि श्रोत्रपेयम्।
खिन्नः खिन्नः शिखरिषु पदं न्यस्य गन्तासि यत्र
क्षीणः क्षीणः परिलघु पयः स्रोतसां चोपभुज्य॥१३॥

सञ्जी०—मार्गमिति हे जलद! तावदिदानीं कथयतः मत्त इति शेषः।

त्वत्प्रयाणस्यानुरूपमनुकूलं मार्गमध्वानम्। 'मार्गो मृगपदे मासि सौम्यर्क्षेऽन्वेषणेऽध्वनि' इति यादवः। शृणु। तदनु मार्गश्रवणानन्तरं श्रोत्राभ्यां पेयं पानार्हम्। अतितृष्णया श्रोतव्यमित्यर्थः। पेयग्रहणात्सन्देशस्यामृतसाम्यं गम्यते। मे सन्देशं वाचिकम्। 'सन्देशवाग्वाचिकं स्यात्' इत्यमरः। श्रोष्यसि। यत्र मार्गे खिन्नः खिन्नोऽभीक्ष्णं क्षीणबलः सन्। 'नित्यवीप्सयोः' इति नित्यर्थे द्विर्भावः। शिखरिषु पर्वतेषु पदं न्यस्य निक्षिप्य। पुनर्बललाभार्थं क्वचिद्विश्रम्येत्यर्थः। क्षीणः क्षीणोऽभीक्ष्णं कृशाङ्गः सन्। अत्रापि कृदन्तत्वात्पूर्ववद् द्विरुक्तिः। स्रोतसां परिलघु गुरुत्वदोषरहितम्। उपलास्फालनखेदितत्वात्पथ्यमित्यर्थः। तथा च वाग्भटः—'उपलास्फालनक्षेपविच्छेदैः खेदितोदकाः। हिमवन्मलयोद्भूताः पथ्या नद्यो भवन्त्यमूः'। इति। पयः पानीयमुपभुज्य शरीरपोषणार्थमभ्यवहृत्य च गन्तासि गमिष्यसि। गमेर्लुट् ॥ १३ ॥

चारि०—मार्गमिति = जलं ददातीति जलदस्तस्य सम्बुद्धौ भो जलद मेघ! तावत्प्रथमतः तव मार्गं शृणु पन्थानमाकर्णय। किंविधं त्वत्प्रयाणानुरूपं तव गमनयोग्यं तदनु मार्गाकर्णनपश्चात् कथयतो मे सन्देशं वाचिकं श्रोष्यसि। किंविधं सन्देशं श्रोत्रपेयम्। मार्गं कस्य शृणोमि यत्र गन्तासि गमिष्यसि। किं कृत्वा खिन्नः खिन्नः मार्गायासक्लान्तः सन् शिखरिषु पर्वतेषु पदं न्यस्य। पुनः किं कृत्वा। जलदानात् क्षीणः क्षीणः सन् स्रोतसां सरित्प्रवाहाणां पयश्चोपभुज्य ॥ १३ ॥

भाव०—हे जलद! त्वं तावत् प्रथमं मत्तः प्रयाणानुकूलं मार्गं शृणु, तदनु प्रियायै मे वाचिकं श्रोष्यसि, यात्राध्वखेदयुक्तस्त्वं शैलेषु विश्रामं विधाय जलवर्षणात् क्षीणतनुः सन् सरित्-प्रवाहाणां च परिलघु जलं पीत्वा यास्यसि तं मार्गं कथयिष्यामि। आकर्णय ॥ १३ ॥

सौ०—हे मेघ! प्रथम आप अपने गमनानुरूप मार्गको मेरे द्वारा सुनें, मैं उन्हें वर्णित करता हूँ। तब इसके पश्चात् कानोंको सुखकारी मेरे सन्देशको सुनियेगा। मार्गमें गमन करते हुए जब अधिक श्रमित हो जायँ तब आप पर्वतोंके ऊपर विश्राम करें। तथा क्षीण बल होकर नदियों के गुरुत्व दोष रहित (हलके) जल को पीकर गमनानुरूप बनें ॥ १३ ॥

अद्रेः शृङ्गं हरति पवनः किंस्विदित्युन्मुखीभि-
र्दृष्टोत्साहश्चकितचकितं मुग्धसिद्धाङ्गनाभिः।
स्थानादस्मात्सरसनिचुलादुत्पतोदङ्मुखः खं
दिङ्नागानां पथि परिहरन्स्थूलहस्तावलेपान् ॥१४॥

सञ्जी०—अद्रेरिति पवनो वायुरद्रेश्चित्रकूटस्य शृङ्गं हरति किंस्वित्। किंस्विच्छब्दो विकल्पवितर्कार्थादिषु पठितः। इति शङ्कयोन्मुखीभिरुन्नतमुखीभिः। 'स्वाङ्गाच्चोपसर्जनादसंयोगोपधात् इति ङीप् मुग्धाभिर्मूढाभिः। 'मुग्धः सुन्दर-

मूढयो' इत्यमरः। सिद्धानां देवयोनिविशेषाणामङ्गनाभिश्चकितं चकितप्रकारं यथा तथा। 'प्रकारे गुणवचनस्य' इति द्विर्भावः। दृष्टोत्साहो दृष्टोद्योगः सन्। सरसा आर्द्रा निचुलाः स्थलवेतसा यस्मिंस्तस्मात्। 'वानीरे कविभेदे स्यान्निचुलः स्थलवेतसे' इति शब्दार्णवे। अस्मात्स्थानादाश्रमात्पथि नभोमार्गे दिङ्नागानां दिग्गजानां स्थूला ये हस्ताः करास्तेषामवलेपानाक्षेपान्परिहरन्। 'हस्तो नक्षत्रभेदे स्यात्करेभकरयोरपि' इति। 'अवलेपस्तु गर्वे स्यात्क्षेपणे दूषणेऽपि च' इति च विश्वः। उदङ्मुखः सन्। अलकाया उदीच्यत्वादित्याशयः। खमाकाशमुत्पतोद्गच्छ। अत्रेदमप्यर्थान्तरं ध्वनयति-रसिको निचुलो नाम महाकविः कालिदासस्य सहाध्यायी परापादितानां कालिदासप्रबन्धदूषणानां परिहर्ता यस्मिन्स्थाने तस्मात्स्थानादुदङ्मुखो निर्दोषत्वादुन्नतमुखैः सन् पथि सारस्वतमार्गे। दिङ्नागानाम्। पूजायां बहुवचनम्। दिङ्नागाचार्यस्य कालिदासप्रतिपक्षस्य हस्तावलेपान्हस्तविन्यासपूर्वकाणि दूषणानि परिहरन्। 'अवलेपस्तु गर्वे स्याल्लेपने दूषणेऽपि च' इति विश्वः। अद्रेरद्रिकल्पस्य दिङ्नागाचार्यस्य 'शृङ्गं प्राधान्यसान्वोश्च' इत्यमरः। हरति किंस्विदिति हेतुना सिद्धैः सारस्वतसिद्धैर्महाकविभिरङ्गनाभिश्च दृष्टोत्साहः सन् खमुत्पतोच्चैर्भवेति स्वप्रबन्धमात्मानं वा प्रति कवेरुक्तिरिति। 'संसर्गतो दोषगुणा भवन्तीत्येतन्मृषा येन जलाशयेऽपि। स्थित्वाऽनुकूलं निचुलश्चलन्तमात्मानमारक्षति सिन्धुवेगात्।' इत्येतच्छ्लोकनिर्माणात्तस्य कवेर्निचुलसञ्ज्ञेत्याहुः॥ १४॥

चारि०—अद्रेरिति—भो मेघ! अस्मात् स्थानात् उदङ्मुखः उत्तराभिमुखः सन् खमाकाशमुत्पत। किं विशिष्टात्। सरसनिचुलात्। सरसा अशुष्काः पल्लवपुष्पफलसहिताः निचुलाः हिज्जलाख्यास्तरवो यत्र तत् तस्मात्। किं कुर्वन्। दिङ्नागानां दिग्गजानां स्थूलहस्तावलेपान् पीवरशुण्डादण्डसम्पर्कान् पथि परिहरन् त्यजन्। किं विशिष्टः इति अमुना प्रकारेण मुग्धसिद्धाङ्गनाभिः मुग्धाः सुन्दर्यो याः सिद्धाङ्गनास्ताभिश्चकितचकितं साश्चर्यं यथा स्यात्तथा दृष्टोच्छ्रायः। दृष्टः आलोकित उच्छ्राय आधिक्यं यस्य स त्वं, किं विशिष्टाभिः। उन्मुखीभिः ऊर्ध्वाननाभिः इति कथं स्विदिति वितर्के। पवनो वायुरद्रेः पर्वतस्य शृङ्गं शिखरं हरति किम्। 'निचुलो हिज्जलोऽम्बुजः' इत्यमरः। 'निचुलन्तु निचोले स्याद्धिज्जलाख्यमहीरुहे' इति मेदिनी। 'स्वित्प्रश्ने च वितर्के च'इत्यमरः। 'हस्तः करे करिकरे सप्रकोष्ठकरेऽपि च'ति मेदिनीकारः। 'मुग्धः सुन्दरमूढयोरि'ति विश्वः॥ १४॥

भाव०—पथि यान्तं त्वां वीक्ष्य 'वायुः शिखरिशिखरं हरति किंस्वित्' इति बुद्ध्या सुन्दरसिद्धवनिताः साश्चर्यं विलोकयिष्यन्ति। मार्गे दिग्गजानां स्थूलशुण्डाक्षेपान् परिहरन्नार्द्रस्थलवेतसशालिनोऽस्मात् स्थानादुत्तराभिमुखः सन्नाकाशं गच्छ॥ १४॥

सौ०—हे मेघ! इस चित्रकूट पर्वतकी चोटियोंको पवन उड़ाये लिये जा रहा है क्या?

इस रीतिसे मुग्धा सिद्धांगनाएँ आपके उत्साहको विस्मयान्विता होकर देखेंगी। इस आर्द्र वेतसके वृक्षवाले, स्थानसे उत्तर दिशाकी ओर आकाशमें जाते हुए, दिशाओंमें स्थित हाथियोंके मोटे-मोटे (सूड़रूपी) हाथोंको अपने वेगसे दूर करते हुए चले जाइये। (इसमें कविपरक श्लेष भी है। भूमिका देखें) ॥ १४ ॥

रत्नच्छायाव्यतिकर इव प्रेक्ष्यमेतत्पुरस्ता-
द्वल्मीकाग्रात्प्रभवति धनुःखण्डमाखण्डलस्य।
येन श्यामं वपुरतितरां कान्तिमापत्स्यते ते
बर्हेणेव स्फुरितरुचिना गोपवेषस्य विष्णोः ॥ १५ ॥

सञ्जी०—रत्नेति। रत्नच्छायानां पद्मरागादिमणिप्रभाणां व्यतिकरो मिश्रणमिव प्रेक्ष्यं दर्शनीयमाखण्डलस्येन्द्रस्यैतद्धनुःखण्डम्। एतदिति हस्तेन निर्देशो विवक्षितः। पुरस्तादग्रे वल्मीकाग्राद्वामलूरशिखरात्। 'वामलूरश्च नाकुश्च वल्मीकं पुंनपुंसकम्' इत्यमरः। प्रभवत्याविर्भवति। येन धनुःखण्डेन ते तव श्यामं वपुः। स्फुरितरुचिनोज्ज्वलकान्तिना बर्हेण पिच्छेन। 'पिच्छबर्हे नपुंसके' इत्यमरः। गोपवेषस्य विष्णोर्गोपालस्य कृष्णस्य श्यामं वपुरिव। अतितरां कान्तिं शोभामापत्स्यते प्राप्स्यते ॥ १५ ॥

चारि०—रत्नेति—भो मेघ! एतदाखण्डलस्य इन्द्रस्य धनुः खण्डं कार्मुकशकलं पुरस्तादग्रे वल्मीकाग्रात् प्रभवति उत्पद्यते किं विशिष्टं प्रेक्ष्यं प्रेक्षितुं योग्यं दर्शनीयमित्यर्थः। उत्प्रेक्ष्यते—रत्नच्छायाव्यतिकर इव। 'रत्नानां पद्मरागवैडूर्यादीनां मणीनां छायानां दीप्तीनां व्यतिकर एव व्यतिषङ्ग इव। मणीनां नानावर्णत्वादसावुत्प्रेक्षा। एतत्किं येन धनुषा कृत्वा ते तव श्यामं वपुः शरीरम् अतितरां कान्तिमापत्स्यते दीप्तिं प्राप्स्यति। केन कस्येव। स्फुरितरुचिना देदीप्यमानदीप्तिकेन बर्हेण शिखण्डेन गोपस्य वेष इव वेषो यस्य तस्य विष्णोर्वसुदेवसूनोरिव। यथा कृष्णस्य श्यामं वपुर्बर्हेण कान्तिं लभते तथेत्यर्थः। श्यामत्वान्मेघस्योपमानं कृष्णः, नानावर्णत्वाद्धनुषा बर्हमुपमानम्। 'रत्नं स्वजातिश्रेष्ठेऽपि मणावपि नपुंसक' इति मेदिनीकारः। 'छाया सूर्यप्रिया कान्तिरि'त्यमरः। 'छायाः स्यादातपाभावे प्रतिबिम्बार्कयोषितोः। पालनोत्कोचयोर्दीप्तिसच्छोभापङ्क्तिषु स्त्रिया'मिति मेदिनीकारः। 'अथ व्यतिकरः पुंसि व्यसनव्यतिषङ्गयोरि'ति विश्वः। 'शिखा चूडा शिखण्डस्तु पिच्छबर्हे नपुंसक' इत्यमरः ॥ १५ ॥

भाव०—पद्मरागादिमणिप्रभामिश्रणमिवैतत्पुरे वामलूरविवराद्दाविर्भवदिन्द्रधनुर्दर्शनीयं वर्त्तते। येन ते श्यामे वपुषि तत्प्रभासंपर्काद् बर्हिबर्हावतंसस्य गोपवेषधारिणः श्रीकृष्णस्येव परमा शोभा जायते ॥ १५ ॥

सौ०—हे मेघ ! अनेक रत्नों के प्रभापुञ्जके समान देदीप्यमान दर्शनीय इन्द्रका धनुष वल्मीकि (बांबी) से उदित हो रहा है। इस इन्द्रधनुषके सम्पर्कसे आपकी काली देह, मोरपङ्खधारी गोपवेषी विष्णुके अनुरूप शोभा वाली दीखेगी ॥ १५ ॥

त्वय्यायत्तं कृषिफलमिति भ्रूविलासानभिज्ञैः
प्रीतिस्निग्धैर्जनपदवधूलोचनैः पीयमानः।
सद्यः सीरोत्कषणसुरभि क्षेत्रमारुह्य मालं
किञ्चित्पश्चाद् व्रज लघुगतिर्भूय एवोत्तरेण ॥ १६ ॥

सञ्जी०—त्वयीति। कृषेर्हलकर्मणः फलं सस्यं त्वयि। अधिकरणविवक्षाय सप्तमी। आयत्तमधीनम्। 'अधीनो निघ्न आयत्तः' इत्यमरः। इति हेतोः प्रीत्या स्निग्धैः। अकृत्रिमप्रेमार्द्रैरित्यर्थः : भ्रूविलासानां भ्रूविकाराणामनभिज्ञैः। पामरत्वादिति शेषः। जनपदवधूनां पल्लीयोषितां लोचनैः पीयमानः सादरं वीक्ष्यमाणः सन्। मालं मालाख्य क्षेत्रं शैलप्रायमुन्नतस्थलम्। 'मालमुन्नतभूतलम्' इत्युत्पलमालायाम्। सद्यस्तत्कालमेव सीरैर्हलैरुत्कर्षणेन सुरभि घ्राणतर्पणं यथा तथाऽऽरुह्य। तत्राभिवृष्येत्यर्थः। 'सुरभिर्घ्राणतर्पणः' इत्यमरः। किञ्चित्पश्चाल्लघुगतिस्तत्र निर्वृष्टत्वात्क्षिप्रगमनः सन्। 'लघु क्षिप्रमरं द्रुतम्' इत्यमरः। भूयः पुनरप्युत्तरेणैवोत्तरमार्गेणैव व्रज गच्छ। 'तृतीयाविधाने प्रकृत्यादिभ्यः उपसङ्ख्यानम्' इति तृतीया। यथा कश्चिद् बहुवल्लभः पतिः कुत्रचित्क्षेत्रे गूढं विहृत्य। 'क्षेत्रं शरीरे केदारे सिद्धस्थानकलत्रयोः इति विश्वः। दाक्षिण्यभङ्गभयान्नीचमार्गेण निर्गत्य पुनः सर्वाभ्यग इव सञ्चरति तद्वदिति ध्वनिः ॥ १६ ॥

चारि०—त्वय्यायत्तमिति—भो मेघः ! त्वं मालमुन्नतस्थलमारुह्य किञ्चित्पश्चात्प्रतीच्यपश्चिमेन लघुगतिर्मन्दगमनः सन् व्रज गच्छ। भूयः पुनरपि उत्तरेणैव व्रज। कीदृशं क्षेत्रम्। सद्यस्तत्क्षणात् सीरेण हलेनोत्कर्षणं विदारणं तेन सुरभीणि क्षेत्राणि यस्य तत्। त्वं कीदृशः। इतिहेतोरंतःकारणात् जनपदवधूलोचनैस्तद्विषयाङ्गनानयनैः पीयमानः सादरं वीक्ष्यमाणः किंविधैः भ्रूविकारे कटाक्षादिनिरीक्षणेऽनभिज्ञैरकुशलैः। पुनः किंविधैः प्रीतिस्निग्धैः। प्रीत्या स्नेहेन स्निग्धैः स्नेहयुक्तैः। इति कुतः। कृषिफलं त्वय्यायत्तं त्वत्स्वाधीनम्। 'कृषको लाङ्गलं हलम्। गोदारणं च सीरोऽथे'त्यमरः। 'त्रिषु निष्पन्ने स्निग्धे स्नेहयुते चिक्कणेऽपि स्यादि'ति मेदिनीकारः। 'माला पुष्पादिबन्धे स्यान्मालमुन्नतभूतले' इत्यभिधानचिन्तामणिः ॥ १६ ॥

भाव०—हे मेघ ! त्वदधीनं कृषिफलमिति सप्रेम पल्लीवासिनीनां योषितां समाजैः सरलभावेन वीक्ष्यमाणस्त्वं हलकर्षणेन तात्कालिकसौरभ्यमयमुन्नतभूतलमभिवृष्य पश्चादाशुगतिः सन् भूय उत्तरेणैव व्रज ॥ १६ ॥

सौ०—हे मेघ ! कृषिकार्यका फल आपके अधीन है। इस लिए प्रेमपूर्वक तथा भ्रुकुटियों-

के विलासोंसे अनभिज्ञा कृषक गणोंकी रमणियाँ आपको आखोंसे पीती हुई देखेंगी। उस समय हलके जोतनेसे उत्पन्न सुरभिवाले मालक्षेत्रमें जलवृष्टि करके आप शीघ्र उत्तर दिशाकी ओर गमन करें ॥ १६ ॥

त्वामासारप्रशमितवनोपप्लवं साधु मूर्ध्ना
वक्ष्यत्यध्वश्रमपरिगतं सानुमानाम्रकूटः ।
न क्षुद्रोऽपि प्रथमसुकृतापेक्षया संश्रयाय
प्राप्ते मित्रे भवति विमुखः किं पुनर्यस्तथोच्चैः ॥ १७ ॥

सञ्जी०—त्वामिति। आम्राश्चूताः कूटेषु शिखरेषु यस्य स आम्रकूटो नाम सानुमान्पर्वतः। 'आम्रश्चूतो रसालोऽसौ,' 'कूटोऽस्त्री शिखरं शृङ्गम्' इति चामरः। आसारो धारावृष्टिः। 'धारासम्पातः आसारः' इत्यमरः। तेन प्रशमितो वनोपप्लवो दावाग्निर्येन तम्। कृतोपकारमित्यर्थः। अध्वश्रमेण परिगतं व्याप्तं त्वां साधु सम्यङ् मूर्ध्ना वक्ष्यति वोढा। वहेर्लृट्। तथा हि। क्षुद्रः कृपणोऽपि। 'क्षुद्रो दरिद्रः कृपणे नृशंसे' इति यादवः। संश्रयाय संश्रयणाय मित्रे सुहृदि। 'अथ मित्रं सखा सुहृत्' इत्यमरः। आगते सति। प्रथमसुकृतापेक्षया पूर्वोपकारपर्यालोचनया विमुखो न भवति यस्तथा तेन प्रकारेणोच्चैरुन्नतः स आम्रकूटः किं पुनर्विमुखो न भवतीति किमु वक्तव्यमित्यर्थः। एतेन प्रथमावसथे सौख्यलाभात्ते कार्यसिद्धिरस्तीति सूचितम्। तदुक्तं निमित्तनिदाने—'प्रथमावसथे यस्य सौख्यं तस्याखिलेऽध्वनि। शिवं भवति यात्रायामन्यथा त्वशुभं ध्रुवम्' ॥ इति ॥ १७ ॥

चारि०—त्वामासारेति—भो मेघ! आम्रकूटः सानुमान् आम्रकूटनामा पर्वतः त्वां भवन्तं मूर्ध्ना मस्तकेन वक्ष्यति धारयिष्यति कथं साधु यथा स्यात्। किं विधं त्वाम् आसारेण धारासम्पातेन प्रशमितः शान्तिं नीतः वनस्य उपप्लवो दावानललक्षणो येन त्वया स त्वं त्वाम्। पुनः किंविधम् अध्वश्रमपरिगतं मार्गक्लमयुक्तम्। पूर्वोक्तेऽर्थेऽर्थान्तरन्यासमाह—भो मेघ! संश्रयाय मित्रे प्राप्ते सति प्रथमसुकृतापेक्षया पूर्वकृतोपकाराकाङ्क्षया मय्यमुना पूर्वमुपकृतं मयाऽप्यमुष्य प्रत्युपकारः कर्त्तव्य इति विचारेणेत्यर्थः। क्षुद्रोऽपि नीचोऽपि विमुखो न भवति पराङ्मुखो न स्यात्। यस्तथोच्चैर्महान् स किं पुनः स यदि विमुखो न भवति तदा किमाश्चर्यम्। 'धारासम्पात आसार' इत्यमरः। 'उपप्लवः सैंहिकेये विप्लवोत्पातयोरपि' ॥ १७ ॥

भाव०—धारावृष्टिप्रशमितवनवह्निं मार्गश्रमयुक्तं त्वामसौ नाम्नाऽऽम्रकूटोऽचलः शिरसा धारयिष्यति, आश्रयार्थिनं सम्प्राप्तं सखायं पूर्वोपकारपर्यालोचनया क्षुद्रोऽपि न कश्चन जनो रिषेद्धुं प्रभवति, किं पुनस्तथाविधः उन्नतः स गिरिः ॥ १७ ॥

सौ०—हे मेघ! धारासम्पात (मूसलाधारवृष्टि) के दावानल (अरण्याग्नि) प्रशमित करनेवाले तथा मार्गश्रमसे परिश्रमित आपको यह आम्रकूट पर्वत उत्तम रीतिसे अपने शिर

पर धारण करेगा। क्योंकि मित्रके आगमपर क्षुद्र जन भी उनके द्वारा किये पूर्वके उपकारोंका पर्यालोचन करके विमुख नहीं होते हैं, फिर यह तो, श्रेष्ठ है इसकी बात ही क्या ? ॥ १७ ॥

छन्नोपान्तः परिणतफलद्योतिभिः काननाम्रै-
स्त्वय्यारूढे शिखरमचलः स्निग्धवेणीसवर्णे ।
नूनं यास्यत्यमरमिथुनप्रेक्षणीयामवस्थां
मध्ये श्यामः स्तन इव भुवः शेषविस्तारपाण्डुः ॥१८॥

सञ्जी०—छन्नेति। हे मेघ ! परिणतैः परिपक्वैः फलैर्द्योतन्त इति तथोक्तैः। आषाढे वनचूताः फलन्ति पच्यन्ते च मेघवातेनेत्याशयः काननाम्रैर्वनचूतैश्छन्नोपान्त आवृतपार्श्वोऽचल आम्रकूटाद्रिः स्निग्धवेणीसवर्णे मसृणकेशबन्धच्छाये। श्यामवर्ण इत्यर्थः। 'वेणी तु केशबन्धे जलस्रुतौ' इति यादवः। त्वयि शिखरं शृङ्गमारूढे सति। 'यस्य च भावेन भावलक्षणम्' इति सप्तमी। मध्ये श्यामः शेषे मध्यादन्यत्र विस्तारे परितः पाण्डुर्हरिणः। 'हरिणः पाण्डुरः' इत्यमरः। भुवः स्तन इव। अमरमिथुनानाम्। खेचराणामिति भावः। प्रेक्षणीयां दर्शनीयामवस्थां नूनं यास्यति। मिथुनग्रहणं कामिनामेव स्तनत्वेनोत्प्रेक्षा सम्भवतीति कृतम्। यथा परिश्रान्तः कश्चित्कामी कामिनानां कुचकलशे विश्रान्तः सन् स्वपिति तद्वद्भवानपीतिभुवो नायिकायाः स्तन इति ध्वनिः ॥ १८ ॥

चारि०—छन्नोपान्त इति। भो मेघ अचलः पर्वतो नूनं निश्चितम् अमरमिथुनप्रेक्षणीयामवस्थां देवयुग्मदर्शनीयां दशां यस्यति। प्राप्स्यति। क सति, त्वयि भवति शिखरं शृङ्गमारूढे आरुह्य स्थिते सति-किं विशिष्टे त्वयि स्निग्धवेणीसवर्णे। श्यामत्वात्। चिक्कणवेणिकादृशे। अचलः कीदृक्। काननाम्रैर्विपिनरसालैः छन्नोपान्तः आच्छादितनिकटः। कीदृशैः काननाम्रैः परिणतानि पक्वानि पीतच्छवीनि यानि फलानि तैर्द्योतन्त इति द्योतिनस्तैः। उत्प्रेक्षते-भुवः पृथिव्याः स्तन इव। कीदृशः मध्ये श्यामः। पुनः कीदृशः. शेषविस्तारपाण्डुः स्तनस्थानीयः पर्वतः श्यामिकास्थानीयो मेघः पाण्डुतास्थानीयाः काननाम्राः 'अमरा निर्जरा देवा' इत्यमरः। 'मिथुनं तु द्वयो राशिभेदे स्त्रीपुंसयुग्मके' इति मेदिनीकारः। 'आम्रश्चूतो रसालोऽसौ सहकारोऽतिसौरभ' इत्यमरः ॥ १८ ॥

भाव०—हे मेघ ! परिपक्वपाण्डुराम्रविपिनैरावृतपार्श्वोऽसौ शैलो मध्ये श्यामवर्णेन त्वया सह शोभमानः पृथिव्याः स्तन इव देवमिथुनैरुत्प्रेक्ष्यमाणो भविष्यति।

सौ०—हे मेघ ! परिपक्वफलोंसे सुन्दर तथा वनोंके आमोंसे आच्छादित आम्रकूटपर्वतके शिखरके ऊपर मृदु केशकलापके सदृश नीली कान्तिवाले आपके आरोहणसे उसका

मध्य भाग नीला और शेष भाग गौरवर्णवाला दृश्यमान होगा। जो छवि पृथिवीके स्तनोंके समान देव-देवीके देखने योग्य होगी ॥ १८ ॥

अध्वक्लान्तं प्रतिमुखगतं सानुमानाम्रकूट-
स्तुङ्गेन त्वां जलद ! शिरसा वक्ष्यति श्लाघ्यमानः।
आसारेण त्वमपि शमयेस्तस्य नैदाघमग्निं
सद्भावार्द्रः फलति न चिरेणोपकारो महत्सु ॥

चारि०—जलं दधातीति जलदस्तत्संबुद्धौ हे जलद हे मेघ, श्लाघ्यत इति श्लाघ्यमानः प्रशस्यमानः आम्रकूटस्तदाख्यः, सानुरस्यास्मिन्निति सानुमान् पर्वतः, प्रतिमुखं गतः प्रतिमुखगतस्तं तथोक्तं संमुखस्थम्, अध्वना क्लान्तोऽध्वक्लान्तस्तं तथोक्तं मार्गखिन्नम्, त्वां भवन्तम्, तुङ्गेन अत्युच्चेन, शिरसा मूर्ध्ना, शिखरेणेत्यर्थः। वक्ष्यति धारयिष्यति, त्वमपि भवानपि तस्य आम्रकूटपर्वतस्य निदाघस्यायं नैदाघस्तं तथोक्तं निदाघसंपन्नम् ग्रीष्मर्तुभवम् अग्निं वह्निं, दवाग्निमित्यर्थः। आसारेण धारासंपातेन, शमयेः शान्तं कुर्याः, महत्सु श्रेष्ठेषु जनेषु, संश्चासौ भावः सद्भावस्तेनार्द्रः सद्भावार्द्रः समीचीनभावसहकृतः, उपकारः, उपकृतिः, न चिरेण न कालविलम्बने, शीघ्रमित्यर्थः, फलति फलदो भवति।

भाव०—हे जलद ! आम्रकूटपर्वतस्त्वामध्वक्लान्तं दृष्ट्वा शिरसा धारणेन सत्करिष्यति, त्वमपि तदीयं दवाग्निं शान्तिं नयेः, यतो महान्तो जनाः स्वोपकारिणां सद्य एव प्रत्युपकारं कुर्वन्ति।

सौ०—हे मेघ ! वह आम्रकूट पर्वत मार्गसे थके हुए आपको सम्मानसे अपने ऊंचे-ऊंचे शिखररूपी शीर्षपर धारणा करेगा। आप भी उसकी ग्रीष्मकालिक ज्वालाको प्रवल वृष्टिद्वारा शान्त करें। क्योंकि सज्जनोंके प्रति किया हुआ सुकृत सुन्दर एवं मधुर फल दिया करता है।

स्थित्वा तस्मिन्वनचरवधूभुक्तकुञ्जे मुहूर्तं
तोयोत्सर्गद्रुततरगतिस्तत्परं वर्त्म तीर्णः।
रेवां द्रक्ष्यस्युपलविषमे विन्ध्यपादे विशीर्णां
भक्तिच्छेदैरिव विरचितां भूतिमङ्गे गजस्य ॥ १९ ॥

सञ्जी०—स्थित्वेति। हे मेघ ! वने चरन्ति ते वनचराः। 'तत्पुरुषे कृति बहुलम्' इति बहुलग्रहणाल्लुगभावः। तेषां वधूभिर्भुक्ताः कुञ्जा लतागृहा यत्र तस्मिन्। 'निकुञ्जकुञ्जौ वा क्लीबे लतादिपिहितोदरे' इत्यमरः। तत्र ते नयनविनोदोऽस्तीत्यर्थः। तस्मिन्नाम्रकूटे मुहूर्तमल्पकालम्। न तु चिरं, स्वकार्यविरोधादिति भावः। मुहूर्तमल्पकाले स्याद्घटिकाद्वितयेऽपि च' इति शब्दार्णवे। स्थित्वा विश्रम्य। तोयोत्सर्गेण

'रथामासार' इत्युक्तवर्णनेन द्रुततरगतिर्जलवर्षाद्धेतोरतिक्षिप्रगमनः सन्। तस्मादा-म्रकूटात्परमनन्तरं वर्त्म मार्गं तीर्णोऽतिक्रान्तः। उपलैः पाषाणैर्विषमे विन्ध्यस्याद्रेः पादे प्रत्यन्तपर्वते। 'पादाः प्रत्यन्तपर्वताः' इत्यमरः। विशीर्णां समन्ततो विसृम-राम्। एतेन कस्याश्चित्कामुक्याः प्रियतमचरणपातोऽपि ध्वन्यते। रेवां नर्मदाम्। 'रेवा तु नर्मदा सोमोद्भवा मेकलकन्यका' इत्यमरः गजस्याङ्गे शरीरे भक्तयो रचनाः भङ्गिभिर्विरचितां भूतिं श्रृङ्गारमिव वा। 'भूतिर्मातङ्गश्रृङ्गारे जातौ भस्मनि सम्पदि' इति विश्वः। द्रक्ष्यसि। अयमपि महांस्ते नयनकौतुकलाभ इति भावः॥१९॥

चारि०—स्थित्वेति। भो मेघ! त्वं तत्परं तस्मात् पर्वतात्परं वर्त्म मार्गं तीर्णः सन् रेवां नर्मदां द्रक्ष्यसि विलोकयिष्यसि। किं विशिष्टस्त्वम्। तोयोत्सर्गात् जल-त्यागात् द्रुततरगतिः, शीघ्रगमनः किं कृत्वा। तस्मिन् पर्वते मुहुर्त्तं क्षणं स्थित्वा। किंविशिष्टे। वनचरवधूभिः किरातवनिताभिर्भुक्तो निकुञ्जो लतादिपिहितोदरं स्थानं यस्य स तस्मिन्। किंविशिष्टां रेवाम्। उपलैः पाषाणैर्विषमे निम्नोन्नते विन्ध्यस्य विन्ध्याचलस्य पादे प्रत्यन्तपर्वते विशीर्णां प्रसृताम्। कामिव गजस्य हस्तिनोऽङ्गे शरीरे भूतिमिव भस्मेव। कीदृशीं। भक्तिच्छेदै रचनाविशेषैर्विरचिताम्। गिरेरुपमानं गजः पादस्याङ्ग रेवायाः भूतिः। 'रेवा तु नर्मदा सोमोद्भवा मेकलकन्यका' इत्यमरः। 'पादो बध्ने तुरीयांशे शैलप्रत्यन्तपर्वते' इति मेदिनीकारः। 'निकुञ्जकुञ्जौ वा क्लीबे लतादिपिहितोदर' इत्यमरः। 'पाषाणप्रस्तरग्रावोपलाश्मान' इत्यमरः। 'भूति-र्भस्मनि सम्पत्तौ'॥ १९॥

भाव०—हे जलद! आम्रकूटाचलस्य वनेचरस्त्रीभिरुपभुक्ते कुञ्जे मुहुर्त्तमात्रं श्रमापनोदं कृत्वा तत्र जलवृष्ट्या प्राप्तातिक्षिप्रगमनः सन् ततः परमध्वानमतिक्रम्य विन्ध्यगिरितटे प्रसृतां द्विरदस्याङ्गे रचनाविशेषैर्विरचितां भूतिमिव नर्मदां विलो-कयिष्यसि॥ १९॥

सौ०—हे मेघ! उस आम्रकूट पर्वतके निकुञ्जोंमें वनचरोंकी रमणियां विहार किया करती हैं। वहांपर कुछ क्षण विश्राम करके जलवृष्टि कीजियेगा। ततः आगेके पथको शीघ्रता से चलनेके पश्चात्, आप विन्ध्याचलके प्रत्यग्रभागमें पत्थरोंसे टेढ़ी होकर बहनेवाली, फैली हुए नर्मदा नदीका अवलोकन कीजिएगा। जिस नर्मदा नदीकी शोभा उस समय ऐसी प्रतीत होगी, जैसे हाथीके शरीर में भस्मसे सफेद-सफेद रेखाएँ खींची गयी हों॥ १९॥

तस्यास्तिक्तैर्वनगजमदैर्वासितं वान्तवृष्टि-
र्जम्बूकुञ्जप्रतिहतरयं तोयमादाय गच्छेः।
अन्तःसारं घन! तुलयितुं नानिलः शक्ष्यति त्वां
रिक्तः सर्वो भवति हि लघुः पूर्णता गौरवाय॥ २०॥

सञ्जी०—तस्या इति। हे मेघ ! वान्तवृष्टिरुद्गीर्णवर्षः सन्। कृतवमनश्च व्यज्यते। तिक्तैः सुगन्धिभिस्तिक्तरसवद्भिश्च। 'तिक्तो रसे सुगन्धौ च' इति विश्वः। वनगजमदैर्वासितं सुरभितं भावितं च। 'हिमवद्विन्ध्यमलया गजानां प्रभवाः' इति विन्ध्यस्य गजप्रभवत्वादिति भावः। जम्बूकुञ्जैः प्रतिहतरयं प्रतिबद्धवेगम्। सुखपेयमित्यर्थः। अनेन लघुत्वं कषायभावना च व्यज्यते। तस्या रेवायास्तोयमादाय गच्छेर्व्रज। हे घन मेघ ! अन्तः सारो बलं यस्य तं त्वामनिल आकाशवायुः, शरीरस्थश्च गम्यते। तुलयितुं न शक्ष्यति शक्तो न भविष्यति। तथा हि। रिक्तोऽन्तः सारशून्यः सर्वोऽपि लघुर्भवति। प्रकम्प्यो भवतीत्यर्थः। पूर्णता सारवत्ता गौरवाय। प्रकम्प्यत्वाय भवतीत्यर्थः। अयमत्र ध्वनिः—आदौ वमनशोधितस्य पुंसः पश्चाच्छ्लेष्मशोषणाय लघुतिक्तकषायाम्बुपानाल्लब्धबलस्य वातप्रकम्पो न स्यादिति। तथाह वाग्भटः—'कषायाश्चाहिमास्तस्य विशुद्धौ श्लेष्मणो हिताः। किमु तिक्तकषाया वा ये निसर्गात्कफापहाः। कृतशुद्धेः क्रमात्पीतपेयादेः पथ्यभोजिनः। वातादिभिर्न बाधा स्यादिन्द्रियैरिव योगिनः।' इति ॥ २० ॥

चारि०—तस्या इति। भो मेघ ! त्वं वान्तवृष्टिः सन् तस्या रेवायास्तोयं जलमादाय गृहीत्वा गच्छेर्यायाः किंविधं तोयं कटुभिर्वनगजमदैर्वासितम् अरण्यद्विपदानैः सुगन्धीकृतम्। पुनः कीदृशं तोयम्। जम्बूकुञ्जप्रतिहतरयं जम्ब्वाः कुञ्जैः प्रतिहतः स्खलितो रयो वेगो यस्य तत्। अन्तःसारं सनीरं त्वां तुलयितुम् अनिलो वायुर्न सचयति न शक्तो भविष्यति। अर्थान्तरमाह—हि यतः सर्वो रिक्तः सन् लघुर्भवति पूर्णत्वं गौरवाय गरिम्णे भवति। 'भवेत्प्रतिहतं द्विष्टे प्रतिस्खलितरुद्धयोरि'ति मेदिनीकारः। 'मदो रेतसि कस्तूर्यां गर्वे हर्षेभदानयोरि'ति। सारो बले मज्जनि च स्थिरांशे न्याये च नीरे च धने सारमि'ति विश्वः ॥ २० ॥

भाव०—हे मेघ ! ततः परं तत्र कृतवृष्टिस्त्वं नर्मदायाः करिमदवासितं जम्बूकुञ्जप्रतिहतवेगं जलं नीत्वा याहि। इत्थं वारिपूर्णतया प्राप्तगुरुत्वं त्वां वायुस्तुलयितुं न प्रभवेत् यतः सर्वोऽपि रिक्तो लघुत्वमेव याति, पूर्णस्तु गौरवमावहति ॥ २० ॥

सौ०—हे मेघ ! जलवर्षण करनेके अनन्तर आप जामुनकी लताकुञ्जोंसे टकराती हुई नर्मदा नदीके वनोंके हाथियोंके मदोंसे सुवासित जलको पीजियेगा क्योंकि जलसे परिपूर्ण आपको पवन इधर-उधर नहीं उड़ा सकेगा। कहा भी है कि, लघुत्व सदा अगौरवत्व प्राप्त करता है और गुरुत्व सदा गौरवत्व प्राप्त करता है ॥ २० ॥

नीतं दृष्ट्वा हरितकपिशं केसरैरर्धरूढै-
राविर्भूतप्रथममुकुलाः कन्दलीश्चानुकच्छन्।
जग्ध्वाऽरण्येष्वधिकसुरभिं गन्धमाघ्राय चोर्व्याः
सारङ्गास्ते जललवमुचः सूचयिष्यन्ति मार्गम् ॥ २१ ॥

सञ्जी०—नीपमिति। सारङ्गा मतङ्गजाः कुरङ्गा वा। 'सारङ्गश्चातके भृङ्गे कुरङ्गे च मतङ्गजे' इति विश्वः। अर्धरूढैरेकदेशोद्गतैः केसरैः किञ्जल्कैर्हरितं पालाशवर्णं 'कपिशं कृष्णपीतं च'। 'पालाशो हरितो हरित्' इति। 'श्यावः स्यात्कपिशो धूम्रधूमलौ कृष्णलोहिते' इति चामरः। श्यामवर्णमिति यावत्। 'वर्णो वर्णेन' इति समासः। नीपं स्थलकदम्बकुसुमम्। 'अथ स्थलकदम्बके। नीपः स्यात्पुलके' इति शब्दार्णवे। दृष्ट्वा सम्प्रेक्ष्य। विदित्वेति यावत्। तथा कच्छेष्वनूपेष्वनुकच्छम्। 'अव्ययं विभक्ति—' इत्यादिना विभक्त्यर्थेऽव्ययीभावः। 'जलप्रायमनूपं स्यात्पुंसि कच्छस्तथाविधः' इत्यमरः। आविर्भूताः प्रथमाः प्रथमोत्पन्ना मुकुला यासां ताः कन्दलीर्भूमिकदलीः। 'द्रोणपर्णी स्निग्धकन्दा कन्दली भूकदल्यपि' इति शब्दार्णवे। जग्ध्वा भक्षयित्वा। 'अदो जग्धिः—' इति जग्ध्यादेशः। अरण्येष्वधिकसुरभिमतिघ्राणतर्पणम्। 'दग्धारण्येषु' इति पाठे 'दग्धम्' इत्यधिकविशेषणम्। अयं वृक्षात्कन्दलीश्च दृष्ट्वैवेत्यन्वयो द्रष्टव्यः। उर्व्या भूमेर्गन्धमाघ्राय जललवमुचो मेघस्य ते तव मार्गं सूचयिष्यन्त्यनुमापयिष्यन्ति। यत्र यत्र वृष्टिकार्यं कन्दलीमुकुलनीपकुसुमादिकं दृश्यते तत्र तत्र त्वया वृष्टमित्यनुमीयत इति भावः॥ २१॥

चारि०—नीपमिति। भो मेघ! सारङ्गाश्चातकभृङ्गकुरङ्गमतङ्गजास्ते मार्गं पन्थानं सूचयिष्यन्ति। किं कृत्वा—नीपं दृष्ट्वा कदम्बं वीक्ष्य। किंविधम्। अर्द्धरूढैः अर्द्धोत्पन्नैः केसरैः किञ्जल्कैर्हरितकपिशम् एतेन भृङ्गाः सूचयिष्यन्ति। 'तव मार्गमनुकच्छं कच्छसमीपे। कन्दलीश्च वीक्ष्य। किंविधाः आविर्भूताः प्रकटीभूताः प्रथमं पूर्वं मुकुलाः कुड्मला यासु तास्ताः। एतेन कुरङ्गाः सूचयिष्यन्ति। पुनः किं कृत्वा दग्धारण्येषु उर्व्या गन्धमाघ्राय किंविधम्। अधिकसुरभिम्। एतेन हस्तिनः सूचयिष्यन्ति। किंविशिष्टस्य ते जललवमुचः शीकरान् त्यजतः। एतेन चातकाः। 'सारङ्गश्चातके भृङ्गे मृगेऽपि च मतङ्गजे' इति मेदिनीकारः। 'नीपप्रियककदम्बा' इत्यमरः। 'किञ्जल्कः केसरोऽस्त्रियामि'त्यमरः॥ २१॥

भाव०—हे जलद—! ततः परं स्थलकदम्बपुष्पोद्गमं वीक्ष्य भूकदलीभक्षणं विधाय विपिनेष्वतिसुरभिं भूमिगन्धमाघ्राय च भृङ्गा मृगा मातङ्गा वा वृष्टिं विदधतस्ते मार्गं सूचयिष्यन्ति॥ २१॥

सौ०—हे मेघ! सारंग, मृग और हाथी अर्ध विकसित हरे-पीले कदम्बके पुष्पोंको देखकर तथा जलप्राय (जलवाले) देशोंमें प्रथम फूली हुई कन्दलीको खाकर एवं अरण्यों की अधिक सुगन्धवाली पृथ्वीकी गन्धको सूंघकर जलवर्षण करनेवाले आपका मार्ग सूचित करेंगे॥ २१॥

अम्भोबिन्दुग्रहणचतुरांश्चातकान्वीक्षमाणाः
श्रेणीभूताः परिगणनया निर्दिशन्तो बलाकाः।

त्वामासाद्य स्तनितसमये मानयिष्यन्ति सिद्धाः
सोत्कम्पानि प्रियसहचरीसम्भ्रमालिङ्गितानि ॥ २२ ॥

सञ्जी०—अम्भ इति । अम्भोबिन्दूनां वर्षोदबिन्दूनां ग्रहणे। 'सर्वं सहापतितमम्बु न चातकस्य हितम्' इति शास्त्राद् भूस्पृष्टोदकस्य तेषां रोगहेतुत्वादन्तराल एव स्वीकारे चतुरांश्चातकान्वीक्षमाणाः कौतुकात्पश्यन्तः श्रेणीभूतावद्धपङ्क्तीः। अभूततद्भावे च्विः । बलाका बकपङ्क्तीः परिगणनयैका द्वे तिस्र इति सङ्ख्यानेन निर्दिशान्तो हस्तेन दर्शयन्तः सिद्धाः स्तनितसमये त्वद्गर्जितकाले सोत्कम्पान्युत्कम्पपूर्वकाणि प्रियसहचरीणां सम्भ्रमेणालिङ्गितान्यासाद्य । स्वयंग्रहणाश्लेषसुखमनुभूयेत्यर्थः। त्वां मानयिष्यन्ति । त्वन्निमित्तत्वात्सुखलाभस्येति भावः।

चारि०—अम्भोबिन्दिवति—भो मेघ सिद्धाः त्वामासाद्य भवन्तं प्राप्य स्तनितसमये त्वद्गर्जितकाले प्रियाणां वल्लभानां सहचरीणां स्त्रीणां विभ्रमालिङ्गितानि विलासालिङ्गनानि मानयिष्यन्ति। किंविशिष्टानि। उत्कण्ठया सह वर्तन्त इति सोत्कण्ठानि। कीदृशाः सिद्धाः। चातकान् वीक्षमाणाः विलोकयन्तः। कीदृशान्। अम्भसां पानीयानां बिन्दुग्रहणे आदाने रभसो हर्षो येषां ते तान्। किं कुर्वन्तः परिगणनया श्रेणीभूताः कृतपङ्क्तीः बलाकाः बकपङ्क्तीः निर्दिशन्तः। इयत्यः सन्ति बलाका इति निर्देशं निश्चयं कुर्वन्तः। 'रभसो हर्षवेगयोरि'ति मेदिनी। 'बलाका बकपङ्क्तिः स्यादि'त्यमरः। 'स्तनितं गर्जितं मेघ' इत्यमरः। श्रेणीभूता इति पौनरुक्त्यं चिन्त्यम् ॥ २२ ॥

भाव०—हे मेघ ! चातकान् पश्यन्तो बलाकानां गणनां कुर्वन्तः सिद्धास्त्वद्गर्जितकाले भयवशात् प्रियाकृतस्वयंग्रहणाश्लेषसुखमनुभवन्तस्त्वां कृतज्ञदृष्ट्या सादरं द्रक्ष्यन्ति ॥

सौ०—हे मेघ ! सिद्धगण आपको आये हुए (वर्षाकाल) जानकर आपका हृदयसे आदर करेंगे। क्योंकि आपकी वृष्टिके कारण बलाका पंक्तियोंको गिननेके लिये तथा पानीकी बूँदोंको पीनेके लिये चातक पक्षी आकाशमें एकत्र होकर झुण्डके झुण्ड उड़ेंगे, उन्हें देखनेके लिये सिद्धांगनाएँ मारे भयके अपने-अपने पतियोंसे लपट जायँगी। उस आकस्मिक आलिंगनके लिये वे सिद्धगण आपको अवश्य धन्यवाद देंगे ॥ १२ ॥

उत्पश्यामि द्रुतमपि सखे मत्प्रियार्थं यियासोः
कालक्षेपं ककुभसुरभौ पर्वते पर्वते ते।
शुक्लापाङ्गैः सजलनयनैः स्वागतीकृत्य केकाः
प्रत्युद्यातः कथमपि भवान्गन्तुमाशु व्यवस्येत् ॥२३॥

सञ्जी०—उत्पश्यामीति। हे सखे! मेघ! मत्प्रियार्थं यथा तथा द्रुतं क्षिप्रम्। 'लघुक्षिप्रमरं द्रुतम्' इत्यमरः। यियासोर्यातुमिच्छोरपि। यातेः सन्नन्तादुप्रत्ययः।

ते तव ककुभैः कुटजकुसुमैः सुरभौ सुगन्धिनि। 'ककुभः कुटजेऽर्जुने' इति शब्दार्णवे। पर्वते पर्वते प्रतिपर्वतम्। वीप्सायां द्विरुक्तिः। कालक्षेपं कालविलम्बम्। 'क्षेपो विलम्बे निन्दायाम्' इति विश्वः। उत्पश्यामि उत्प्रेक्षे। विलम्बहेतुं दर्शयन्नाशुगमनं प्रार्थयते—शुक्लेति। सजलानि सानन्दबाष्पाणि नयनानि येषां तैः, शुक्लापाङ्गैर्मयूरैः। 'मयूरो बर्हिणो बर्हीं शुक्लापाङ्गः शिखावलः' इति यादवः। केकाः स्ववाणीः। 'केका वाणी मयूरस्य' इत्यमरः। स्वागतीकृत्य स्वागतवचनीकृत्य प्रत्युद्यातः प्रत्युद्गतः। मयूरवाणीकृतातिथ्य इत्यर्थः। भवान् कथमपि यथाकथञ्चिदाशु गन्तुं व्यवस्येदुद्युञ्जीत। प्रार्थने लिङ्। 'शेषे प्रथमः' इति प्रथमपुरुषः। शेषश्चायं भवच्छन्दो युष्मदस्मच्छब्दव्यतिरेकात्। 'स्वागतीकृत्य केकाः' इत्यत्र केकास्वारोप्यमाणस्य स्वागतवचनस्य प्रकृतप्रत्युद्गमनोपयोगात्परिणामालङ्कारः। तदुक्तमलङ्कारसर्वस्वे—'आरोप्यमाणस्य प्रकृतोपयोगित्वे परिणामः' इति ॥ २२ ॥

चारि०—उत्पश्यामीति। भोः सखे मेघ! मत्प्रियार्थं मम सन्तोषार्थं द्रुतं शीघ्रं यियासोर्गन्तुमिच्छोरपि ते तव पर्वते पर्वते कालक्षेपं विलम्बमहमुत्पश्यामि। किंविशिष्टे पर्वते ककुभैरर्जुनवृक्षैः सुरभिः सुगन्धिस्तस्मिन्। भवान् आशु शीघ्रं गन्तुं गमनाय कथमपि महता कष्टेन व्यवस्येत् व्यवसायमुद्योगं कुर्यात्। कीदृशो भवान् शुक्लापाङ्गैः मयूरैः प्रत्युद्यातः। किं कृत्वा' केकाः मयूरवाणीः स्वागतीकृत्य स्वागतं भो मेघ! केकयेति सम्भाष्य। किंविशिष्टैर्मयूरैः। स्नेहत्वात् जलेन स्नेहाश्रुपानीयेन सह वर्तन्त इति सजलानि नयनानि येषां ते तैः। अथ चोक्तिः। यथा कश्चित्स्नेहाश्रुजलं मुञ्चन् स्वागतमिति वाक्यं ब्रुवन् परदेशादागतं मित्रं प्रत्युद्याति। 'केका वाणी मयूरस्ये'त्यमरः। 'नदीसर्जो वीरतरुरिन्द्रद्रुः ककुभोऽर्जुनः' इत्यमरः। 'अथ द्रुतं त्रिषु। शीघ्रे विलीने विद्राण' इति मेदिनी ॥ २२ ॥

भाव०—हे जलद! मत्संदेशवहनरूपं प्रियकार्यं विधातुं, गन्तुमिच्छोस्ते मध्येमार्गं कुटजपुष्पैः सुरभौ शैले शैले कालविलम्बमुत्प्रेक्षे .अपि च तत्र प्रतिशैलं बर्हिण आनन्दाश्रुपरिपूर्णाः सन्तः स्वकीयाभिः केकावाणीभिस्त्वत्स्वागतं विदधतस्त्वां प्रत्युद्यास्यन्ति इत्थं त्वमपि तेन हेतुना यथाकथंचिद् गमनोद्योगं विधास्यसि ॥२२॥

सौ०—हे मेघ! मेरे प्रिय कार्यको शीघ्र सम्पादित करनेके लिए शीघ्र गमन करनेकी आपकी अभिलाषा है, तो भी मैं देख रहा हूँ विकसित कुटजके पुष्पोंसे परिपूर्ण सुगन्धवाले प्रत्येक पर्वत आपके विलम्बका कारण होगा। अतः आनन्दाश्रुओंसे परिपूर्ण नयनवाले मोरगणोंकी वाणियोंका स्वागत करके आप किसी रीतिसे शीघ्र गमनका उद्योग करियेगा ॥२२॥

पाण्डुच्छायोपवनवृतयः केतकैः सूचिभिन्नै-
र्नीडारम्भैर्गृहबलिभुजामाकुलग्रामचैत्याः।

त्वय्यासन्ने परिणतफलश्यामजम्बूवनान्ताः
सम्पत्स्यन्ते कतिपयदिनस्थायिहंसा दशार्णाः ॥२३॥

सञ्जी०—पाण्डिति। हे मेघ! त्वय्यासन्ने सन्निकृष्टे सति दशार्णा नाम जनपदाः सूचिभिन्नैः सूचिषु मुकुलाग्रेषु भिन्नैर्विकसितैः। 'केतकीमुकुलाग्रेषु सूचिः स्यात्' इति शब्दार्णवे। केतकैः केतकीकुसुमैः पाण्डुच्छाया हरितवर्णा उपवनानां वृतयः कण्टकशाखावरणा येषु ते तथोक्ताः। 'प्राकारो वरणः सालः प्राचीरं प्रान्ततो वृतिः' इत्यमरः। तथा गृहबलिभुजां काकादिग्रामपक्षिणां नीडारम्भैः कुलायनिर्माणैः। 'कुलायो नीडमस्त्रियाम्' इत्यमरः। चित्याया इमानि चैत्यानि रथ्यावृक्षाः। 'चैत्यमायतने बुद्धवन्द्ये चोद्देशपादपे' इति विश्वः। आकुलानि सङ्कीर्णानि ग्रामेषु चैत्यानि येषु ते तथोक्ताः। तथा परिणतैः पक्वैः फलैः श्यामानि यानि जम्बूवनानि तैरन्ता रम्याः। 'मृतावबसिते रम्ये समाप्तावन्त इष्यते' इति शब्दार्णवे। तथा कतिपयेष्वेव दिनेषु स्थायिनो हंसा येषु ते तथोक्ता एवंविधा संपत्स्यन्ते भविष्यन्ति। 'पोटायुतिस्तोककतिपय'—इत्यादिना कतिपयशब्दस्योत्तरपदत्वेऽपि न तच्छब्दस्योत्तरत्वमस्त्यस्य शास्त्रस्य प्राथमिकत्वात् ॥ २३ ॥

चारि०—पाण्डूविति। भो मेघ! त्वयि आसन्ने निकटगते सति दशार्णाः देशविशेषाः परिणतानि फलानि येषु ते तादृशाः श्यामजम्ब्वाः वनान्तं काननमध्यं येषु तादृशाः सम्पत्स्यन्ते। सम्पन्ना भविष्यन्ति। कीदृशाः। कतिपयेषु दिनेषु स्थातुं शीलमेषां ते तादृशाः हंसा येषु ते। कीदृशाः सूचिभिन्नैः कण्टकमिश्रितैः केतकैः पाण्डुच्छायस्य पीतशोभस्योपवनस्योद्यानस्य वृतिरावेष्टनं येषु ते। 'पुनः कीदृशाः। गृहबलिभुजां काकानां नीडारम्भैः कुलायोद्यमैः आकुलानि ग्रामचैत्यानि ग्रामपादपाः येषु ते। 'चैत्यमायतने बुद्धबिम्बे चोद्देशपादप'इति मेदिनीकारः। 'वृतिस्तु वरणेऽपि स्याद्वेष्टनेऽपि च योषिती'ति मेदिनीकारः। 'नीडं स्थानकुलाययोरि' ति मेदि०। 'आरम्भस्तु त्वरायां स्यादुद्यमे वधदर्पयोरि'ति मेदि० ॥ २३ ॥

भाव०—हे जलद! त्वयि समीपगे सति दशार्णाख्यदेशेष्वारामाः केतकीकुसुममयवृतिशालिनः, रथ्यावृक्षाश्च काकादिग्रामपक्षिणां कुलायनिर्माणैः संकीर्णाः, काननमध्यभागाश्च परिपक्वजम्बूफलैः श्यामाः, हंसाश्च-मानससरोवरगमनौत्सुक्येन कतिपयदिनस्थायिनो भविष्यन्ति ॥ २३ ॥

सौ०—हे मेघ! जब आप दशार्ण देशके सन्निकट-पहुँचेंगे तब वहाँकी उपवनश्रेणी कटीदार प्रफुल्लित केवड़ों के फूलोंसे पांडुवर्णवाली सफेद दीखेगी। वहाँ के विशाल-विशाल वृक्ष पक्षियोंके (कौए आदिके) घौंसले रचनेसे व्याप्त दीखेंगे। पकी हुई जामुनोंके फलोंसे वनमार्ग सुरम्य दीखेगा। जिससे वहाँ हंस पक्षिगण भी कुछ दिनों निवास करेंगे॥

तेषां दिक्षु प्रथितविदिशालक्षणां राजधानीं
गत्वा सद्यः फलमविकलं कामुकत्वस्य लब्धा।
तीरोपान्तस्तनितसुभगं पास्यसि स्वादु यस्मा-
त्सभ्रूभङ्गं मुखमिव पयो वेत्रवत्याश्चलोर्मि ॥ २४ ॥

सञ्जी०—तेषामिति। दिक्षु प्रथितं प्रसिद्धं विदिशेति लक्षणं नामधेयं यस्यास्ताम्। 'लक्षणं नाम्नि चिह्ने च' इति विश्वः। तेषां दशार्णानां सम्बन्धिनीम्। धीयन्तेऽस्यामिति धानी। 'करणाधिकरणयोश्च' इति ल्युट्। राज्ञां धानी राजधानी। 'कृद्योगलक्षणा षष्ठी समस्यते' इति वक्तव्यात्समासः। तां प्रधाननगरीम्। 'प्रधाननगरी राज्ञां राजधानीति कथ्यते' इति शब्दार्णवे। गत्वा प्राप्य सद्यः कामुकत्वस्य विलासितायाः। 'विलासी कामुकः कामी स्त्रीपरो रतिलम्पटः' इति शब्दार्णवे। अविकलं समग्रं फलं प्रयोजनं लब्धा लप्स्यते। त्वयेति शेषः। कर्मणि लुट्। कुतः। यस्मात्कारणात्स्वादु मधुरं चला ऊर्मयो यस्य तच्चलोर्मि तरङ्गितं वेत्रवत्या नाम नद्याः पयः सभ्रूभङ्गं भ्रुकुटियुक्तम्। दशनपीडयेति भावः। मुखमिवाधरमिवेत्यर्थः। तीरोपान्ते तटप्रान्ते यस्तनितं गर्जितं तेन सुभगं यथा तथा। स्तनितशब्देन भणितमपि व्यपदिश्यते। 'ऊर्ध्वमुखलितकण्ठनासिकं हुङ्कृतं स्तनितमल्पघोषवत्' इति लक्षणात्। पास्यसि। पिबतेर्लृट्। 'कामिनामधरास्वादः सुरतादतिरिच्यते' इति भावः ॥ २४ ॥

(चारि०) तेषामिति—भो मेघ! त्वं वेत्रवत्या नद्याः स्वादु स्वादयुक्तं मधुरं पयः पानीयं पास्यसि कथं कीदृश चलास्तरला ऊर्मयः कल्लोला यत्र तत्। कथं यथा स्यात्। तीरोपान्ते कूलसमीपे स्तनितेन मेघगर्जितेन यथा स्यात्। उत्प्रेक्षते—सभ्रूभङ्गं भ्रूभङ्गसहितं मुखमिव। किं कृत्वा। तेषां दशार्णानां दिक्षु दिग्विभागेषु प्रथितं विख्यातं विदिशेति लक्षणं नाम यस्याः सा तां राजधानीं गत्वा। पुनः किं कृत्वा सद्यस्तत्क्षणात् कामुकत्वस्य कामितायाः अविकलं सम्पूर्णं फलं लब्ध्वा प्राप्य। 'लक्षणं नाम्नि चिह्ने चे'ति मेदिनीकारः। 'स्तनितं मेघगर्जितम्' इत्यमरः ॥ २४ ॥

भावः—हे जलद! दशार्णदेशसंबन्धिनीं दिक्षु ख्यातां विदिशानाम्नीं राजधानीं गत्वा तत्र स्थिताया वेत्रवत्याः सरितस्तीरप्रान्ते कलकलशब्दं दधत् सुस्वादुजलं भ्रूभङ्गयुतनायिकामुखमिव पीत्वा कामुकतायाः संपूर्णफलं प्राप्स्यसि ॥ २४ ॥

सौ०—हे मेघ! उस दशार्ण देशकी प्रसिद्ध राजधानी विदिशा नगरीमें पहुँचकर आप तत्काल विलासी पुरुषोंकी सभी सुख-सामग्री प्राप्त करेंगे। अर्थात्—वहाँकी सुन्दर मधुर तथा चपल तरङ्गवाली वेत्रवती नदीके तटप्रान्तमें गरजनेसे उस नदीके जलको आप, भ्रुकुटि भङ्गियोंसे परिभूषित रमणी-मुखके अधरपानके सदृश पान करेंगे तथा कामियोंके सम्पूर्ण फलको प्राप्त करेंगे ॥ २४ ॥

नीचैराख्यं गिरिमधिवसेस्तत्र विश्रामहेतो-
स्त्वत्संपर्कात्पुलकितमिव प्रौढपुष्पैः कदम्बैः।
यः पण्यस्त्रीरतिपरिमलोद्गारिभिर्नागराणा-
मुद्दामानि प्रथयति शिलावेश्मभिर्यौवनानि ॥ २५ ॥

सञ्जी०—नीचैरिति। हे मेघ! तत्र विदिशासमीपे। विश्रामो विश्रमः खेदापनयः। भावार्थे घञ्प्रत्ययः तस्य हेतोः विश्रामार्थमित्यर्थः। 'षष्ठी हेतुप्रयोगे' इति षष्ठी। विश्रामेत्यत्र 'नोदात्तोपदेशस्य मान्तस्यानाचमेः' इति पाणिनीये वृद्धिप्रतिषेधेऽपि 'विश्रामो वा' इति चन्द्रव्याकरणे विकल्पेन वृद्धिविधानाद्रूपसिद्धिः। प्रौढपुष्पैः प्रबुद्धकुसुमैः कदम्बैर्नीपवृक्षैस्त्वत्सम्पर्कात्तव सङ्गात्। पुलका अस्य जाताः पुलकितमिव सञ्जातपुलकमिव स्थितम्। तारकादित्वादितच्प्रत्ययः। नीचैरित्याख्या यस्य तं नीचैराख्यं गिरिमधिवसेः। गिरौ वसेरित्यर्थः। 'उपान्वध्याङ्वसः' इति कर्मत्वम्। यो नीचैर्गिरिः। पण्याः क्रेयाः स्त्रियः पण्यस्त्रियो वेश्याः। 'वारस्त्री गणिका वेश्या पण्यस्त्री रूपजीवनी' इति शब्दार्णवे। तासां रतिषु यः परिमलो गन्धविशेषः। 'विमर्दोत्थे परिमलो गन्धे जनमनोहरे' इत्यमरः। तमुद्गिरन्त्याविष्कुर्वन्तीति तथोक्तानि तैः। शिलावेश्मभिः कन्दरैर्नागराणां पौराणामुद्दामान्युत्कटानि यौवनानि प्रथयति प्रकटयति। उत्कटयौवनाः कश्चिदनुरक्ता वाराङ्गना विश्रम्भविहाराकाङ्क्षिण्यो मात्रादिभयाद्विलीयसमये कञ्चन विविक्तं देशमाश्रित्य रमन्ते। तच्चात्र बहुलमस्तीति प्रसिद्धिः। अत्रोद्गारशब्दो गौणार्थत्वान्न जुगुप्सावहः। प्रत्युत काव्यस्यातिशोभाकर एव। यदुक्तं दण्डिना—'निष्ठ्यूतोद्गीर्णवान्तादि गौणवृत्तिव्यपाश्रयम्। अतिसुन्दरमन्यत्र ग्राम्यकक्षां विगाहते' इति ॥ २५ ॥

चारि०—नीचैरिति। भो मेघ! त्वं तत्र विदिशायां विदिशासमीपे नीचैरित्याख्या नाम यस्य तं नीचैराख्यं गिरिं पर्वतमधिवसेः कुतः? विश्रामहेतोः। उत्प्रेक्षते—त्वत्सम्पर्कात् त्वदङ्गसङ्गात् प्रौढपुष्पैः पक्वकुसुमैः कदम्बैर्नीपैः पुलकितमिव रोमाञ्चितमिव यो गिरिर्नागराणां पुरनिवासिनामुद्दामानि स्वतन्त्राणि यौवनानि तारुण्यानि शिलावेश्मभिः पाषाणगृहैः प्रथयति प्रख्यापयति। किंविशिष्टैः। पण्यस्त्रीणां वेश्यानां रतिपरिमलः सुरतोपमर्दविकसच्छरीररागादिसौरभस्तमुद्गिरितुं शीलमेषां तानि उद्गारीणि तैः। 'उद्दामो बन्धरहिते स्वतन्त्रे चे'ति मेदि०। 'स्यात्परिमलो विमर्दातिमनोहरगन्धयोश्चापि। सुरतोपमर्दविकसच्छरीररागादिसौरभे पुंसी' ति मेदि०। 'पाषाणप्रस्तरग्रावोपलाश्मानः शिला दृषदि'त्यमरः ॥ २५ ॥

भाव०—हे जलद! विश्रामहेतोस्तत्र नीचैराख्यं गिरिमधिवसेः, यस्त्वत्संपर्काद्विकसितकदम्बपुष्पैः संजातपुलक इव स्थितः स्यात्। यस्य च शिलाभवनानि

वारवधूरतिपरिमलाविष्कारकतया तत्रत्यानां नगरवासिनां यौवनान्युद्दामानि द्योतयन्ति ॥ २५ ॥

सौ०—हे मेघ ! आप उस विदिशा नगरीमें नीचगिरिके ऊपर विश्रामार्थ विराम करियेगा। जो नीचगिरि विकसित कदम्बके फूलोंसे ऐसा मालूम पड़ेगा मानो आपके ही संयोगसे रोमांचित हो रहा हो। जिसकी गुहाएँ (कन्दराएँ) वेश्याओंके रतिके उपरान्त गिरे हुए सुवासित द्रव्योंके द्वारा वहाँके नागरिकोंके उत्कृष्ट तारुण्यको प्रकट करती हैं ॥२५॥

विश्रान्तः सन्व्रज वननदीतीरजातानि सिञ्च-
न्नुद्यानानां नवजलकणैर्यूथिकाजालकानि ।
गण्डस्वेदापनयनरुजाक्लान्तकर्णोत्पलानां
छायादानात्क्षणपरिचितः पुष्पलावीमुखानाम् ॥ २६ ॥

सञ्जी०—विश्रान्त इति । विश्रान्तः संस्तत्र नीचगिरौ विनीताध्वश्रमः सन् । अथ विश्रान्तेरनन्तरम् । वनेऽरण्ये या नद्यस्तासां तीरेषु जातानि स्वयंरूढानि, अकृत्रिमाणीत्यर्थः 'नदनद्री—' इति पाठे 'पुमान्स्त्रिया' इत्येकशेषो दुर्वारः । तेषामुद्यानानामारामाणां संबन्धीनि यूथिकाजालकानि मागधीकुसुममुकुलानि । 'अथ मागधी । गणिका यूथिका' इत्यमरः । 'कोरकजालककलिकाकुड्मलमुकुलानि तुल्यानि' इति हलायुधः । नवजलकणैः सिञ्चन्नार्द्रीकुर्वन् । अत्र सिञ्चतेरार्द्रीकरणत्वाद् द्रवद्रव्यस्य करणत्वम् । यत्र तु क्षरणमर्थस्तत्र द्रवद्रव्यस्य कर्मत्वम् । यथा 'रेतः सिक्त्वा कुमारीषु' । 'सुखैर्निषिक्तमिवामृतं त्वयि' इत्येवमादि । एवं किरतीत्यादीनामपि 'रजः किरति मारुतः' । 'अवाकिरन्वयोवृद्धास्तं लाजैः पौरयोषितः' इत्यादिष्वर्थभेदाश्रयणेन रजोलाजादीनां कर्मत्वकरणत्वे समर्थितव्ये । तथा गण्डयोः कपोलयोः स्वेदस्यापनयने या रुजा पीडा । भिदादित्वादङ्प्रत्ययः । तया क्लान्तानि कर्णोत्पलानि येषां तेषां तथोक्तानाम् । पुष्पाणि लुनन्तीति पुष्पलाव्यः पुष्पावचायिकाः स्त्रियः । 'कर्मण्यण्' । 'टिड्ढाणञ्—' इत्यादिना ङीप् । तासां मुखानि । छायाया अनातपस्य दानात् । कान्तिर्दानं च व्यन्यते । 'छाया सूर्यप्रिया कान्तिः प्रतिबिम्बमनातपः' इत्यमरः । कामुकदर्शनात्कामिनीनां मुखविकासो भवतीति भावः । क्षणपरिचितः क्षणं संसृष्टः सन् । न तु चिरम् । गच्छ ॥ २६ ॥

चारि०—विश्रान्त इति । भो मेघ ! विश्रान्तः सन् त्वं व्रज किंकुर्वन् उद्यानानामुपवनानां यूथिकाजालकानि नवजलकणैः नवीनसीकरैः सिञ्चन् । किंविशिष्टानि वननदीतीरजातानि । वननद्याः कुल्यायास्तीरे कूले जातानि समुत्पन्नानि । अथवा नवानि नूतनानि नदीतीरजातानि च तानि । किंविशिष्टस्त्वम् । छायादानात् आतपाभावकरणात् पुष्पलावीमुखानां पुष्पाणि लुनन्ति पुष्पलाव्यस्तासां मुखानि तेषाम् । क्षणे अल्पापारस्थितौ काले परिचितः कृतपरिचयः । किंविशिष्टानां मुख-

नां। गण्डयोः कपोलयोर्यः स्वेदस्तस्यापनयनं दूरीकरणं तेन या रुजा सङ्गस्तया म्लानानि कर्णोत्पलानि येषु तानि तेषाम् 'रुजा रोगे च भङ्गे चे'ति मेदि०। 'छाया स्यादातपाभावे' इति मेदि०। 'अव्यापारस्थितौ कालविशेषोत्सवयोः क्षणः।' इत्यमरः। 'पुमानाक्रीड उद्यानं राज्ञः साधारणं वनमि'त्यमरः॥ २६॥

भाव०—तत्र कृतविश्रामः सन् वननदीतीरोद्यानोत्पन्नानि मागधीकुसुममुकुलानि सिञ्चन्। अपि च तत्रोद्यानेषु कुसुमचयनार्थिनीनां चयनश्रमस्विन्नानां विलासिनीनां मुखोपरिच्छायाप्रदानेन ताभिः सह क्षणं कृतपरिचयः सन् याहि॥ २६॥

सौ०—हे मेघ! आप वहाँ विश्राम करके, वनकी नदियोंके तटके बगीचों में उत्पन्न मागधी-कुसुमोंको (चमेली-कलियोंको) नूतन जलके बिन्दुओंसे सींच करके कपोलों परके पसीनेके बिन्दुओंको पोंछ देनेके कारण जिन महिलाओं के कमलपत्रोंके बने कर्णभूषण मलिन पड़ गये हैं उन फूलोंको तोड़नेवाली रमणियोंको छायादान देकर कुछ देरके लिये उनसे परिचित होकर जाइयेगा॥ २६॥

वक्रः पन्था यदपि भवतः प्रस्थितस्योत्तराशां
सौधोत्सङ्गप्रणयविमुखो मा स्म भूरुज्जयिन्याः।
विद्युद्दामस्फुरितचकितैस्तत्र पौराङ्गनानां
लोलापाङ्गैर्यदि न रमसे लोचनैर्वञ्चितोऽसि॥ २७॥

सञ्जी०—वक्र इति। उत्तराशामुदीचीं दिशं प्रति प्रस्थितस्य भवतः पन्था उज्जयिनीमार्गो वक्रो यद्यपि। दूरो यद्यपीत्यर्थः। विन्ध्यादुत्तरवाहिन्या निर्विन्ध्यायाः प्राग्भागे कियत्यपि दूरे स्थितोज्जयिनी। उत्तरापथस्तु निर्विन्ध्यायाः पश्चिम इति वक्रत्वम्। तथाप्युज्जयिन्या विशालानगरस्य। 'विशालोज्जयिनी समा' इत्युत्पलः। सौधानामुत्सङ्गेषूपरिभागेषु प्रणयः परिचयः। 'प्रणयः स्यात्परिचये याच्ञायां सौहृदेऽपि च' इति यादवः। तस्य विमुखः पराङ्मुखो मा स्म भूः। न भवेत्यर्थः। 'स्मोत्तरे लङ् च' इति चकारादाशीरर्थे लुङ्। 'न माङ्योगे' इत्यडागमप्रतिषेधः। तत्रोज्जयिन्यां विद्युद्दाम्नां विद्युल्लतानां स्फुरितेभ्यः स्फुरणेभ्यश्चकितैर्लोलापाङ्गैश्चञ्चलकटाक्षैः। पौराङ्गनानां लोचनैर्न रमसे यदि तर्हि त्वं वञ्चितः प्रतारितोऽसि। जन्मवैफल्यं भवेदित्यर्थः॥ २७॥

चारि०—वक्र इति—भो मेघ! उत्तराशाम् उदीचीं दिशं प्रस्थितस्य गच्छतो भवतस्तत्र यद्यपि मार्गो वक्रस्तिरश्चीनस्तथाऽपि उज्जयिन्याः विक्रमार्कपुर्याः सौधोत्सङ्गप्रणयविमुखो धवलगृहपराङ्मुखो मा स्म भूः सरलमार्गं त्यक्त्वा वक्रे पथि किमर्थं गच्छामीत्याह—तत्र उज्जयिन्यां पौराङ्गनानां नागरनारीणां लोचनैर्नयनैर्यदि न रमसे न क्रीडसि तदा वञ्चितोऽसि। किंविशिष्टैः। विद्युद्दामस्फुरितचकितैः सौदामिनीमालादीप्तिचकितैः। अपरं कीदृशैः। लोलापाङ्गैः लोलाश्चञ्चलाः अपाङ्गा

नेत्रान्ताः कटाक्षा येषु तानि तैः। 'अपाङ्गस्त्वङ्गहीने स्यान्नेत्रान्ते तिलकेऽपि च' इति मेदिनीकारः। 'विद्युत्सौदामिनी'इत्यमरः॥ २७॥

भाव०—हे जलद ! उत्तरदिशं प्रति प्रस्थितस्य यद्यपि मार्गो वक्रस्ते भवेत् तथाऽप्युज्जयिनीमवश्यमेव याहि, तत्र नागरिकयोषितां, यदि विद्युत्स्फुरणवशाच्चकितैश्चञ्चलकटाक्षैस्त्वं वीक्षितो न स्यास्तर्हि ते जन्मवैफल्यं स्यात् अतस्तत्सौन्दर्यमवश्यं पश्येः॥ २७॥

सौ०—हे मेघ ! उत्तर दिशा में अलकापुरी जाते हुए यद्यपि आपका मार्ग टेढ़ा पड़ेगा तथापि उज्जयिनी के राजप्रासादोंके देखनेमें आप पराङ्मुख न हों। उस नगरीमें विद्युत्प्रकाशसे भयभीता वनिताओंके चञ्चल अपाङ्गों (कटाक्षों) के यदि आपने दर्शन न किये तो निश्चय ही आप प्रतारित हुए—आपका जन्म वृथा हुआ॥ २७॥

वीचिक्षोभस्तनितविहगश्रेणिकाञ्चीगुणायाः
संसर्पन्त्याः स्खलितसुभगं दर्शितावर्तनाभेः।
निर्विन्ध्यायाः पथि भव रसाभ्यन्तरः सन्निपत्य
स्त्रीणामाद्यं प्रणयवचनं विभ्रमो हि प्रियेषु॥ २८॥

सञ्जी०—वीचीति। हे सखे ! पथ्युज्जयिनीपथे वीचिक्षोभेण तरङ्गचलनेन स्तनितानां मुखराणाम्। कर्तरि क्तः। विहगानां श्रेणिः पङ्क्तिरेव काञ्चीगुणो यस्यास्तस्याः स्खलितेनोपस्खलनेन,मदस्खलितेन च सुभगं यथातथा संसर्पन्त्याः प्रवहन्त्याः गच्छन्त्याश्च। तथा दर्शितः प्रकटित आवर्तोऽम्भसां भ्रम एव नाभिर्यया। 'स्यादावर्तोऽम्भसां भ्रमः' इत्यमरः। निष्क्रान्ता विन्ध्यान्निर्विन्ध्या नाम नदी। 'निरादयः क्रान्ताद्यर्थे पञ्चम्या' इति समासः। 'द्विगुप्राप्तापन्नालम्'—इत्यादिना परवल्लिङ्गताप्रतिषेधः। तस्या नद्याः संनिपत्य संगत्य रसो जलमभ्यन्तरे यस्य सः। अन्यत्र रसेन श्रृङ्गारेणाभ्यन्तरोऽन्तरङ्गो भव। सर्वथा तस्या रसमनुभवेत्यर्थः। 'श्रृङ्गारादौ द्रवे वीर्ये सुवर्णे विषशुक्रयोः। तिक्तादावमृते चैव निर्यासे पारदे ध्वनौ। आस्वादे च रसं प्राहुः' इति शब्दार्णवे। ननु नरप्रार्थनामन्तरेण कथं तत्रानुभवो युज्यतेऽयत आह—स्त्रीणामिति। स्त्रीणां प्रियेषु विषये विभ्रमो विलास एवाद्यं प्रणयवचनं प्रार्थनावाक्यं हि। स्त्रीणामेष स्वभावः यद्विलासैरेव रागप्रकाशनं न तु कण्ठत इति भावः। विभ्रमश्चात्र नाभिसंदर्शनादिरुक्त एव॥ २८॥

चारि०—वीचीति। उज्जयिन्यां केन पथा क गच्छामीत्याह—वीचीति। भो मेघ ! निर्विन्ध्यायाः नद्याः पथि मार्गे भव। किं कृत्वा रसाभ्यन्तरं रसस्य जलस्याभ्यन्तरं मध्यं संनिपत्य। अथवा रसं जलम् अभ्यन्तरे मध्ये संनिपत्य एकत्रीकृत्य। कीदृश्याः वीचीनां क्षोभस्तस्मात् स्तनिताः शब्दायमाना ये विहगाः पक्षिणस्तेषां

श्रेणिः परम्परा सैव काञ्चीगुणो मेखलासूत्रं यस्याः सा तस्याः। पुनः कीदृश्याः संसर्पन्त्याः गच्छन्त्याः कथं यथा स्यात्। स्खलितसुभगं मनोज्ञं यथा स्यात्। पुनः कीदृश्याः दर्शित आवर्त एव वारिभ्रम एव नाभिर्यया सा तस्याः। अर्थान्तरमाह—हि यतः कारणात् स्त्रीणां कामिनीनां प्रियेषु भर्तृषु प्रणयवचनं प्रीतियुक्तं यच्च आद्यो विभ्रमः प्रथमविलासः अन्योऽपि शृङ्गाररसयुक्तः सन् नायिकाया मार्गे गच्छति। साऽपि शब्दायमानमेखला स्यात् अपरं गच्छन्ती स्खलन्ती। नाभिं च दर्शयति कामोद्रेकात्। 'आवर्तश्चिन्तने वारिभ्रमे चावर्तने पुमानि'ति मेदिनीकारः॥ २८॥

भा०—हे जलद! उज्जयिनीं गच्छंस्त्वं मध्येमार्गं वर्त्तमानाया निर्विन्ध्याया अनुरागवत्या रमण्या इव रसोपभोगं कुर्वन् सन् याहि, कामिनीनां हि प्रेयःसु विलास एवाद्यं प्रणयवचनं भवति॥ २८॥

सौ०—हे मेघ! उज्जयिनी नगरीके रास्तेमें गमन करते हुए आप जल की लहरोंसे शब्दायमान, इस पंक्तिरूपा कांचीवाली (करधनी वाली) मदोन्मत्त होकर (हिलते-डुलते) चलनेवाली (बहने वाली) तथा जलावर्त्तरूपी भंवर (नाभि) को प्रदर्शित करने वाली निर्विन्ध्या नदीके जल (रस) का पान करें। क्योंकि अंगनाओंका स्वभाव ही है कि वे अपने प्रियोंके प्रति रतिके हेतु हाव-भाव दिखाया करती हैं॥ २८॥

वेणीभूतप्रतनुसलिलाऽसावतीतस्य सिन्धुः
पाण्डुच्छाया तटरुहतरुभ्रंशिभिर्जीर्णपर्णैः।
सौभाग्यं ते सुभग! विरहावस्थया व्यञ्जयन्ती
कार्श्यं येन त्यजति विधिना स त्वयैवोपपाद्यः॥२९॥

सञ्जी०—वेणीति। अवेणी वेणीभूतं वेण्याकारं प्रतनु स्तोकं च सलिलं यस्याः सा तथोक्ता। अन्यत्र वेणीभूतकेशपाशेति च ध्वन्यते। रुहन्तीति रुहाः। इगुपधलक्षणः कप्रत्ययः। तटयो रुहा ये तरवस्तेभ्यो भ्रश्यन्तीति तथोक्तैः जीर्णपर्णैः शुष्कपत्रैः पाण्डुच्छाया पाण्डुवर्णा। अत एव हे सुभग! विरहावस्थया पूर्वोक्तप्रकारया करणेन। अतीतस्यैतावन्तं कालमतीत्य गतस्य प्रोषितस्येत्यर्थः। ते तव सौभाग्यं सुभगत्वम्। 'हृद्भगसिन्ध्वन्ते पूर्वपदस्य च' इत्युभयपदवृद्धिः। व्यञ्जयन्ती प्रकाशयन्ती। स खलु सुभगो यमङ्गनाः कामयन्त इति भावः। असौ पूर्वोक्ता सिन्धुर्नदी निर्विन्ध्या। 'स्त्री नद्यां ना नदे सिन्धुर्देशभेदेऽम्बुधौ गजे' इति वैजयन्ती। येन विधिना व्यापारेण कार्श्यं त्यजति स विधिस्त्वयैवोपपाद्यः कर्तव्य इत्यर्थः। स च विधिरेकत्र वृष्टिरन्यत्र सम्भोगस्तदभावनिबन्धनत्वात्कार्श्यस्येति भावः। इयं पञ्चमी मदनावस्था। तदुक्तं रतिरहस्ये—'नयनप्रीतिः प्रथमं चित्तासङ्गस्ततोऽथ संकल्पः। निद्राच्छेदस्तनुता विषयनिवृत्तिस्त्रपानाशः। उन्मादो मूर्च्छा मृतिरित्येताः स्मरदशा

यशैव स्युः।' इति। 'तामतीतस्य' इति पाठमाश्रित्य सिन्धुर्नाम नद्यन्तरमिति व्याख्यातम्। किन्तु सिन्धुर्नाम कश्चिन्नदः काश्मीरदेशेऽस्ति। नदी तु कुत्रापि नास्तीत्युपेक्ष्यमित्याचक्षते ॥ २९ ॥

चारि०—वेणीति। भो सुभग मेघ! सिन्धुर्निर्विन्ध्या येन विधिना विधानेन कार्श्यं कृशत्वं त्यजति मुञ्चति स विधिस्त्वयैव भवतैव उपपाद्यः करणीयः। किं कुर्वती। ते तव विरहावस्थया विश्लेषदशया सौभाग्यं सुभगत्वं व्यञ्जयन्ती प्रकटयन्ती। कीदृशस्य ते। तां निर्विन्ध्यामतीतस्यातिक्रान्तस्य। सिन्धुः कीदृशी वेणीभूतं प्रतनु अल्पतरं सलिलं पानीयं यस्याः सा पुनः कीदृशी। जीर्णपर्णैः पक्वपलाशैः पाण्डुः पीता छाया आतपाभावो यस्यां सा। किंभूतैः। तटरुहतरुभ्रंशिभिः कूलोत्पन्नपादपपतितैः। अन्यापि विरहिणी वेणीबन्धसहिता भवति। अपरं पीतच्छविः स्यात्। कृशशरीरा च भवति। एतैर्लक्षणैः पत्युः सौभाग्यं व्यञ्जयति। 'विधिर्नानियते काले विधाने परमेष्ठिनी'ति मेदि०। 'तनुः काये त्वचि स्त्री स्यात्त्रिष्वल्पे विरले कृशे' इति मे० ॥ २९ ॥

भाव०—अपि च हे जलद! सा निर्विन्ध्या नदी नायिकेव त्वद्विश्लेषेण स्वल्पतरजलेन कृशतनुस्तीरस्थपादपजीर्णशीर्णपर्णैः पीतकान्तिस्ते सौभाग्यं व्यक्तीकरोति, अत एव यथा सा कार्श्यं जह्यात् तथा त्वमुपपादय ॥ २९ ॥

सौ०—हे मेघ! आपके वियोगसे उस निर्विन्ध्या नदीका प्रवाह एक वेणीके रूपमें क्षीण हो गया है उसके तटपरके वृक्षोंके पके पत्तेके गिरनेसे वह पांडुवर्णा हो गयी है। अतः हे सुभग! जो नदी इतने दिनोंसे आपकी विरहावस्थामें रहकर आपका ही सौभाग्य प्रकाशित करती है, उसकी कृशता जैसे भी दूर हो सके वैसा उपाय आप करें ॥ २९ ॥

प्राप्यावन्तीनुदयनकथाकोविदग्रामवृद्धान्
पूर्वोद्दिष्टामनुसर पुरीं श्रीविशालां विशालाम्।
स्वल्पीभूते सुचरितफले स्वर्गिणां गां गतानां
शेषैः पुण्यैर्हृतमिव दिवः कान्तिमत्खण्डमेकम् ॥ ३० ॥

सञ्जी०—प्राप्येति। विदन्तीति विदाः। इगुपधलक्षणः कः। ओकसो वेद्यस्थानस्य विदाः कोविदाः। ओकारलुप्ते पृषोदरादित्वात् साधुः। उदयनस्य वत्सराजस्य कथानां वासवदत्ताहरणाद्यद्भुतोपाख्यानानां कोविदास्तत्त्वज्ञा ग्रामेषु ये वृद्धास्ते सन्ति येषु तानवन्तींस्तन्नामजनपदान्प्राप्य अत्र पूर्वोद्दिष्टां पूर्वोक्तां 'सौधोत्सङ्गप्रणयविमुखो मा स्म भूरुज्जयिन्याः' इत्युक्तां श्रीविशालां संपत्तिमतीम्। 'शोभासंपत्तिपद्मासु लक्ष्मीः श्रीरिव दृश्यते' इति शाश्वतः। विशालां पुरीमुज्जयिनीमनुसर व्रज। कथमिव स्थिताम्। सुचरितफले पुण्यफले स्वर्गोपभोगलक्षणे स्वल्पीभूते। अत्यल्पावशिष्टे सतीत्यर्थः। गां भूमिं गतानाम्। 'गौरिला कुम्भिनी क्षमा'इत्यमरः।

पुनरपि भूलोकगतानामित्यर्थः। स्वर्गिणां स्वर्गवतां जनानां शेषैर्भुक्तशिष्टैः पुण्यैः सुकृतैर्हृतमानीतम् । स्वर्गानुष्ठितकर्मशेषाणां स्वर्गदानावश्यम्भावादिति भावः। कान्तिरस्यास्तीति कान्तिमदुज्ज्वलम् । सारभूतमित्यर्थः। एकं मुख्यादन्यत्र । 'एके मुख्यान्यकेवलाः' इत्यमरः। दिवः स्वर्गस्य खण्डमिव स्थितामित्युत्प्रेक्षा । एतेनातिक्रान्तसकलभूलोकनगरसौभाग्यसारत्वमुज्जयिन्या व्यज्यते ॥ ३० ॥

पारि०—प्राप्येति । भो मेघ ! अवन्तीन् देशान् प्राप्य गत्वा पूर्वोद्दिष्टां प्रथमनिवेदितां विशालामुज्जयिनीं पुरीमनुसर अनुयाहि। कीदृशीं श्रिया लक्ष्म्या विशालां पृथुलां परिपूर्णां कीदृशान् अवन्तीन् । उदयनस्य उदयनाचार्यस्य कथायाः कोविदाः पण्डिताः ये ग्रामा ग्रामवासिनो जनास्तैर्वृद्धा वृद्धिं गतास्तान् । उत्प्रेक्ष्यते । दिवः स्वर्गस्य कान्तिमत् सश्रीकमेकं खण्डमिव शकलमिव । पृथिव्यां कुतः समागतमित्याह। कीदृशं स्वर्गिणां स्वर्गप्राप्तानां शेषैः अवशिष्टैः पुण्यैः सुकृतैर्हृतमानीतं कीदृशानां सुचरितफले पुण्यफले, स्वल्पीभूते क्षीणे सति गां गतानां पृथ्वी प्राप्तानाम् । 'विशाला त्विन्द्रवारुण्यामुज्जयिन्यां तु योषिति' इति मे० ॥ ३० ॥

भाव०—हे जलद ! तत्र उदयनकथाप्रवचनचतुरप्राचीनवृद्धसमन्वितानवन्तीन् देशान् प्राप्य संपत्तिशालिनीमुज्जयिनीं पुरीं याहि। या ह्युज्जयिनी पुरी स्वर्गिणां भुवं गतानां शेषैः पुण्यैर्हृतमिव स्वर्गस्य सारभूतं खण्डं वर्तते ॥ ३० ॥

सौ०—हे मेघ ! अवन्ती नगरीमें जाकर, जिस नगरीमें गाँवके बूढ़े वत्सराज और वासवदत्ता-हरणकी कथा कहा करते हैं । फिर उस समृद्धिमती विशाला उज्जयिनी नगरीमें जाइयेगा। जिसकी स्वर्गफलभोगियोंके अल्प पुण्य शेष रह जानेपर पुनः पृथिवीपर, उन्हींके शेष पुण्यद्वारा पृथिवीपर लाई हुई देदीप्यमाना स्वर्गके टुकड़ेके समान प्रभा मालूम होती है ॥ ३० ॥

दीर्घीकुर्वन्पटु मदकलं कूजितं सारसानां
प्रत्यूषेषु स्फुटितकमलामोदमैत्रीकषायः।
यत्र स्त्रीणां हरति सुरतग्लानिमङ्गानुकूलः
शिप्रावातः प्रियतम इव प्रार्थनाचाटुकारः ॥ ३१ ॥

सञ्जी०—दीर्घीकुर्वन्निति । यत्र विशालायां प्रत्यूषेष्वहर्मुखेषु । 'प्रत्यूषोऽहर्मुखं कल्यम्' इत्यमरः। पटु प्रस्फुटम् । मदकलं मदेनाव्यक्तमधुरम् । 'ध्वनौ तु मधुरास्फुटे । कलः' इत्यमरः। सारसानां पक्षिविशेषाणाम् । 'सारसो मैथुनी कामी गोनर्दः पुष्कराह्वयः' इति यादवः। यद्वा सारसानां हंसानाम् । 'चक्राङ्गः सारसो हंसः' इति शब्दार्णवे । कूजितं रुतं दीर्घीकुर्वन्। विस्तारयन्नित्यर्थः। वायुघातैः शब्दावृत्तेरिति भावः। एतेन प्रियतमः स्वचाटुवाक्यानुसारिक्रीडापक्षिकूजितमपि दीर्घीकुर्वन्निति च गम्यते। स्फुटितानां विकसितानां कमलानामामोदेन परिमलेन

सह या मैत्री संसर्गस्तेन कषायः सुरभिः। 'रागद्रव्ये कषायोऽस्त्री निर्यासे सौरभे रसे' इति यादवः। अन्यत्र विमर्दगन्धीत्यर्थः। 'विमर्दोत्थे परिमलो गन्धे जनमनोहरे। आमोदः सोऽतिनिर्हारी' इत्यमरः। अङ्गानुकूलो गात्रसुखस्पर्शः। अन्यत्र गाढालिङ्गनद्वयगात्रसंवाहन इत्यर्थः। भवभूतिना चोक्तम्—'अशिथिलपरिरम्भैर्दत्तसंवाहनानि' इति। संवाहनान्ते च सुरतश्रान्ताः प्रियैर्युवतयः। एतत्कविरेव वक्ष्यति—'सम्भोगान्ते मम समुचितो हस्तसंवाहनानाम्' इति। शिप्रा नाम काचित्तत्रत्या नदी तस्या वातः शिप्रावातः। शिप्राग्रहणं शैत्यद्योतनार्थम्। प्रार्थना सुरतस्य याच्ञा तत्र चाटु करोतीति तथोक्तः। पुनः सुरतार्थं प्रियवचनप्रयोक्तेत्यर्थः। कर्मण्यण् प्रत्ययः। प्रियतमो वल्लभ इव स्त्रीणां सुरतग्लानिं सम्भोगखेदं हरति नुदति। चाटूक्तिभिर्विस्मृतपूर्वरतिखेदाः स्त्रियः प्रियतमप्रार्थनां सफलयन्तीति भावः। 'प्रार्थनाचाटुकारः' इत्यत्र 'खण्डितनायिकानुवीता' इति व्याख्याने सुरतग्लानिहरणं न सम्भवति। तस्याः पूर्वं सुरताभावात्पश्चात्तनसुरतग्लानिहरणं तु नेदानीन्तनकोपशमनार्थचाटुवचनसाध्यमित्युपेक्षैवोचिता विवेकिनाम्। 'ज्ञातेऽन्यासङ्गविकृते खण्डितेर्ष्याकषायिता' इति दशरूपके ॥ ३१ ॥

चारि०—दीर्घीति। भो मेघ! यत्र यस्यामुज्जयिन्यां शिप्रावातः शिप्रानदीमरुत् अङ्गानुकूलः सन् प्रत्यूषे प्रातःकालेषु स्त्रीणां कामिनीनां सुरतग्लानिं रतिश्रमं हरति। किं कुर्वन्। सारसानां पक्षिभेदानां कूजितं शब्दं दीर्घीकुर्वन्। कीदृशं पटु दक्षं। पुनः कीदृशम्। मदात् हर्षात् कलं मधुरध्वनिमव्यक्तं वा। कीदृशो वातः। स्फुटितानां विकसितानां कमलानां वारिजानामामोदो जनमनोहरो गन्धस्तस्य मैत्री सम्पर्कस्तेन कषायः सुरभिः सुगन्धिः। 'मदो रेतसि कस्तूर्यां गर्वे हर्षे मदानयोरि'ति मे०। 'कलं शुक्रे त्रिषु क्षीणे चाव्यक्तमधुरध्वनावि'ति मे०। 'पटुर्दक्षे च नीरोगे चतुरेऽप्यभिधेयवदि'ति मे०। 'विमर्दोत्थे परिमलो गन्धे जनमनोहरे। सुरभौ लोहिते त्रिष्वि'ति मेदिनीकरः। क इव उत्प्रेक्ष्यते। प्रार्थना प्रसादार्थं याच्ञा तस्यां चाटुकारः मधुरभाषी प्रियतम इव भर्त्तेव। सोऽप्येवंविधो भवति। कीदृशः कमलगन्धसम्पर्कसुगन्धिः। तथा च शरीरसुखकारी भवति। अपरं च सुरतक्लमं हरति ॥३१॥

भाव०—जलद! यत्रोज्जयिन्यां प्रत्यूषेषु विकसितकमलसुगन्धयुक्तः शिप्रावायुः प्रियतम एव, पुनः सुरतप्रार्थनाचाटुवाक्यैः कामिनीनां सुरतश्रममपनयति, तामुज्जयिनीं पुरीं याहि ॥ ३१ ॥

सौ०—हे मेघ! उस उज्जयिनी नगरीमें प्रभातके समयसे सारस पक्षियोंकी मधुर ध्वनियोंको बढ़ाने वाला तथा प्रफुल्लित पद्मोंकी सुगन्धसे परिव्याप्त एवं शरीरको सुख देनेवाला और कामक्रीडाकालमें प्रिय वचन कहनेमें प्रिय वल्लभोंके सदृश कुशल, शिप्रा नदीका पवन बहा करता है। जिससे कामिनियोंके कामकेलिश्रम दूर हुआ करते हैं ॥३१॥

इतः परं प्रक्षिप्तमपि श्लोकत्रयं व्याख्यायते—

[१](हारांस्तारांस्तरलगुटिकान्कोटिशः शङ्खशुक्तीः
शष्पश्यामान्मरकतमणीनुन्मयूखप्ररोहान् ।
दृष्ट्वा यस्यां विपणिरचितान्विद्रुमाणां च भङ्गान्
संलक्ष्यन्ते सलिलनिधयस्तोयमात्रावशेषाः ॥)

सञ्जी०—हारानिति । यस्यां विशालायां कोटिशो विपणिषु पण्यवीथिकासु । 'विपणिः पण्यवीथिका' इत्यमरः । रचितान्प्रसारितान् । इदं विशेषणं यथालिङ्गं सर्वत्र सम्बध्यते । ताराञ्छुद्धान् । 'तारो मुक्तादिसंशुद्धौ तरणे शुद्धमौक्तिके' इति विश्वः । तरलगुटिकान्मध्यमणीभूतमहारत्नान् । 'तरलो हारमध्यगः' इत्यमरः । 'पिण्डे मणौ महारत्ने गुटिकाबद्धपारदे' इति शब्दार्णवे । हारान्मुक्तावलीः । तथा कोटिशः शङ्खांश्च मुक्तास्फोटांश्च । 'मुक्तास्फोटः स्त्रियां शुक्तिः शङ्खः स्यात्कम्बुरस्त्रियाम्' इत्यमरः । शष्पं बालतृणं तद्वच्छ्यामान् । 'शष्पं बालतृणं घासो यवसं तृणमर्जुनम्' इत्यमरः । उन्मयूखप्ररोहानुद्गतरम्याङ्कुरान्मरकतमणीन्गारुत्मतरत्नानि । तथा विद्रुमाणां भङ्गान्प्रवालखण्डांश्च दृष्ट्वा सलिलनिधयः समुद्रास्तोयमात्रमवशेषो येषां ते तादृशाः संलक्ष्यन्ते । तथानुमीयन्त इत्यर्थः । रत्नाकरादप्यतिरिच्यते रत्नसंपद्भिरिति भावः ।

चारि०—हारानिति । भो मेघ ! यस्यां पुर्यां तारान् शुद्धमौक्तिकान् हारान् दृष्ट्वा सलिलनिधयः समुद्रास्तोयमात्रावशेषाः केवलजलावशिष्टाः संलक्ष्यन्ते । कीदृशान् तरला भास्वरा गुटिका येषु ते तान् । कोटिशः सर्वत्र योऽन्वयः । शङ्खशुक्तीश्च दृष्ट्वा न केवलं शङ्खशुक्तीः शष्पवत् बालतृणवत् श्यामान् नीलवर्णान् मरकतमणींश्च कीदृशान् उद्गताः मयूखानां किरणानां प्ररोहाः अङ्कुरा येषां ते तान् । विद्रुमाणां प्रवालानां भङ्गांश्च शकलानि च दृष्ट्वा किंविशिष्टान् विपण्यां हट्टायां रचितान् कृतराशीन् । 'तारो वानरभिन्मुक्ताविशुद्ध्योः शुद्धमौक्तिके' इति मेदि० । 'तरलं चञ्चले षिद्गे भास्वरेऽपि त्रिलिङ्गकमि'ति से० । 'शष्पं बालतृणं घास' इत्यमरः ॥

भाव०—हे जलद ! यत्र विशालायां पण्यवीथिकासु प्रसारितान् कोटिशो बहुमूल्यान् हारान् मरकतमणीन् प्रवालखण्डांश्च दृष्ट्वा रत्नाकरस्य जलमात्रावशेषतां लोका लक्षयन्ति तां याहि ।

सौ०—जिस नगरीकी रत्नराशि देखकर रत्नाकर (समुद्र) केवल जलावशेष दीखता है—उस विशाला नगरीमें शुद्ध और चमकदार मोतियोंकी मालाएँ भरी पड़ी हैं । कोमल हरी-हरी घासके रंगोंसी हरी-हरी देदीप्यमान पन्नाकी मणियाँ लदी पड़ी हैं । मूंगे तथा उनके टुकड़ोंके ढेरके ढेर बाजारमें बिखरे हुए हैं ॥

---

१. इत आरभ्य ( ) कोठस्था यावन्तः श्लोकास्तावन्तः प्रक्षिप्ता बोध्याः । एवं च २४ पृष्ठे 'अध्वक्लान्तमि'ति, २७ पृष्ठे 'अम्भोबिन्दि'ति च श्लोकावपि प्रक्षिप्तौ ।

(प्रद्योतस्य प्रियदुहितरं वत्सराजोऽत्र जह्रे
हैमं तालद्रुमवनमभूदत्र तस्यैव राज्ञः ।
अत्रोद्भ्रान्तः किल नलगिरिः स्तम्भमुत्पाट्य दर्पा-
दित्यागन्तूनरमयति जनो यत्र बन्धूनभिज्ञः ॥)

सञ्जी०—प्रद्योतस्येति । अत्र प्रदेशे वत्सराजो वत्सदेशाधीश्वर उदयनः । प्रद्योतस्य नामोज्जयिनीनायकस्य राज्ञः प्रियदुहितरं वासवदत्तां जह्रे जहार । अत्र स्थले तस्यैव राज्ञः प्रद्योतस्य हैमं सौवर्णं तालद्रुमवनमभूत् । अत्र नलगिरिर्नामेन्द्रदत्तस्तदीयो राजो दर्पान्मदात्स्तम्भमालानमुत्पाट्योद्धृत्योद्भ्रान्त उत्पत्य भ्रमणं कृतवान् । इतीत्थंभूताभिः कथाभिरित्यर्थः । अभिज्ञः पूर्वोक्तकथाभिज्ञः कोविदो जन-आगन्तून्देशान्तरादागतान् । औणादिकस्तुन्प्रत्ययः । बन्धून्यत्र विशालायां रमयति विनोदयति । अत्र भाविकालंकारः । तदुक्तम्—'अतीतानागते यत्र प्रत्यक्षत्वेन लक्षिते । अत्यद्भुतार्थकथनाद्भाविकं तदुदाहृतम् ॥' इति ॥

चारि०—प्रद्योतस्येति । भो मेघ ! यत्रोज्जयिन्याम् अभिज्ञो जनो लोकः आगन्तूनागन्तुकान् बन्धून् सुहृदः इति रमयति । इति कथम् । भो बान्धवाः अत्र वत्सराजो नृपविशेषः प्रद्योतस्य राज्ञः प्रियदुहितरं पुत्रीं जह्रे अहरत् । तस्यैव राज्ञः तालद्रुमवनं हैमं सौवर्णमभूत् । किलेति प्रसिद्धौ । अत्र नलगिरिनृपगजो दर्पात् बलात् स्तम्भम् उत्पाट्य उद्भ्रान्तः उद्भ्रमणं चकार ॥

भावः—हे जलद ! यत्र विशालायां तत्रत्यः कथाऽभिज्ञो जनः आगन्तुकाँल्लोकान् अत्रोदयनकृतं प्रद्योतस्य सुताया वासवदत्ताया हरणम्, अत्र तस्यैव सौवर्णं तालद्रुमवनम्, अत्र तदीयस्य नलगिरेरिन्द्रदत्तगजस्योन्मत्तदशायामुद्भ्रमणं चासीदित्येवं कथाभिर्विनोदयति तां याहि ॥

सौ०—हे मेघ ! उस उज्जयिनीमें अभिज्ञ जन आगन्तुकोंको तथा अपने अतिथिको प्रद्योतकी कथा कहकर चित्त रमाया करते हैं—वे लोग उनसे कहा करते हैं—'हे बन्धो ! इस स्थानपर वत्सराजनृपतिने प्रद्योत नृपतिकी पुत्रीका अपहरण किया था' । फिर एक ओर अङ्गुली दिखाकर कहते हैं—'उसी राजाका यहाँ पर सुवर्णका ताड़ का वन लगा हुआ था ।' फिर एक ओर अङ्गुली दिखाकर कहते हैं—'इस स्थानपर नलगिरि नामक हाथीने मन्दोन्मत्त होकर बड़े वेगसे अपना आलान (खूंटा) उखाड़ डाला था । आदि आदि ।

(पत्रश्यामा दिनकरहयस्पर्धिनो यत्र वाहाः
शैलोदग्रास्त्वमिव करिणो वृष्टिमन्तः प्रभेदात् ।
योधाग्रण्यः प्रतिदशमुखं संयुगे तस्थिवांसः
प्रत्यादिष्टाभरणरुचयश्चन्द्रहासव्रणाङ्कैः ॥)

सञ्जी०—पत्रेति। हे जलद ! यत्र विशालायां वाहाः हयाः पत्रश्यामाः पलाशवर्णाः अत एव दिनकरहयस्पर्धिनो वर्णतो वेगतश्च सूर्याश्वकल्पास्तथा शैलोदग्राः शैलवदुन्नताः करिणः प्रभेदान्मदस्रावाद्धेतोस्त्वमिव वृष्टिमन्तः। अग्रं नयन्तीत्यग्रण्यः। 'सत्सूद्विष–' इत्यादिना क्विप्। 'अग्रग्रामाभ्यां नयतेः' इति णत्वम्। योधानामग्रण्यो भटश्रेष्ठाः संयुगे युद्धे प्रतिदशमुखमभिरावणं तस्थिवांसः स्थितवन्तः। अत एव चन्द्रहासस्य रावणासेर्व्रणानि क्षतान्येवाङ्काश्चिह्नानि तैः। 'चन्द्रहासो रावणासावसिमात्रेऽपि च क्वचित्' इति शाश्वतः। प्रत्यादिष्टाभरणरुचयः प्रतिषिद्धभूषणकान्तयः शस्त्रप्रहारा एव वीराणां भूषणमिति भावः। अत्रापि भाविकालङ्कारः॥

चारि०—पत्रेति—भो मेघ ! यत्रोज्जयिन्यां वाहाः अश्वाः दिनकरहयानां सूर्याश्वानां स्पर्द्धा येषामस्ति तादृशाः सन्ति। कीदृशाः पत्रश्यामाः पलाशवन्नीलवर्णाः पाठान्तरे शष्पश्यामाः बालतृणवन्नीला। यत्र करिणस्त्वमिव सन्ति। किंविशिष्टाः। प्रभेदात् मदक्षरणात् वृष्टिमन्तः वृष्टियुक्ताः। पुनः कीदृशाः। शैलवत् पर्वतवदुदग्रा उच्चा। त्वमप्येवंविधः। प्रभेदात् जलत्यागात् वृष्टिमान्। शैलोदग्रश्च। यत्र च योधाग्रण्यः योधेषु भटेषु अग्रण्यः अग्रगामिनः संयुगे सङ्ग्रामे दशमुखं रावणं प्रति तस्थिवांसः रावणेन सह युद्धमकार्षुरित्यर्थः। कीदृशाः चन्द्रहासस्य शस्त्रविशेषस्य व्रणाङ्कैः क्षतचिह्नैः प्रत्यादिष्टा निराकृता आभरणानामलङ्काराणां रुचिर्येषां ते तादृशाः 'प्रत्यादिष्टो निरस्तः स्यात् प्रत्याख्यातो निराकृत' इत्यमरः॥

भाव०—हे जलद ! यत्र विशालायां सूर्यतुरगकल्पा अश्वाः मदसत्ता अञ्जनशैलाभा उन्नता गजेन्द्राः, रावणासिव्रणाङ्कितशरीरा. वीराः सैनिकाश्च सन्ति। तां याहि॥

सौ०—हे जलद ! जिस विशाला नगरीमें पलाशवर्णके घोड़े हैं जो सूर्यके घोड़ोंकी स्पर्धा करनेवाले हैं और हाथी ऐसे हैं जो पर्वतों के सदृश मालूम होते है। इतना मदस्राव करते हैं कि मानों जलवृष्टि हो रही हो अर्थात् आपके समान जलवृष्टि करनेवाले काले-काले पर्वतोंके समान हाथी हैं। ऐसे-ऐसे योधा हैं जो समरमें रावणके सामने खड़े हो जानेवाले हैं। जिन योधाओंके शरीर चन्द्रहास नामक शस्त्रके क्षतोंसे परिभूषित होकर अलंकार पहने हुएके समान दीखते हैं।

जालोद्गीर्णैरुपचितवपुः केशसंस्कारधूपै-
र्बन्धुप्रीत्या भवनशिखिभिर्दत्तनृत्योपहारः।
हर्म्येष्वस्याः कुसुमसुरभिष्वध्वखेदं नयेथा
लक्ष्मीं पश्यंल्ललितवनितापादरागाङ्कितेषु॥ ३२॥

भर्तुः कण्ठच्छविरिति गणैः सादरं वीक्ष्यमाणः
पुण्यं यायास्त्रिभुवनगुरोर्धाम चण्डीश्वरस्य ।
धूतोद्यानं कुवलयरजोगन्धिभिर्गन्धवत्या-
स्तोयक्रीडानिरतयुवतिस्नानतिक्तैर्मरुद्भिः ॥ ३३ ॥

सञ्जी०—जालोद्गीर्णैरिति । जालोद्गीर्णैर्गवाक्षमार्गनिर्गतैः । 'जालं गवाक्ष आनाये वालके कपटे गणे' इति यादवः । केशसंस्कारधूपैः । वनिताकेशवासनार्थैर्गन्धद्रव्यधूपैरित्यर्थः अत्र संस्कारधूपयोस्तादर्थ्येऽपि यूपदार्वादिवत्प्रकृतिविकारत्वाभावादश्वघासादिवत्षष्ठीसमासो न चतुर्थीसमासः । उपचितवपुः परिपुष्टशरीरः । बन्धौ बन्धुरिति वा प्रीत्या भवनशिखिभिर्गृहमयूरैर्दत्तो नृत्यमेवोपहार उपायनं यस्य स तथोक्तः । 'उपायनमुपग्राह्यमुपहारस्तथोपदा' इत्यमरः । कुसुमैः सुरभिषु सुगन्धिषु । ललितवनिताः सुन्दरस्त्रियः । 'ललितं त्रिषु सुन्दरम्' इति शब्दार्णवे । तासां पादरागेण लाक्षारसेनाङ्कितेषु चिह्नितेषु हर्म्येषु धनिकभवनेष्वस्या उज्जयिन्या लक्ष्मीं पश्यन्नध्वगमनेन खेदं क्लेशं नयेथा अपनय ॥ ३२ ॥

सञ्जी०—भर्तुरिति । भर्तुः स्वामिनो नीलकण्ठस्य भगवतः कण्ठस्येव छविर्यस्यासौ कण्ठच्छविरिति हेतोर्गणैः प्रथमैः । 'गणस्तु गणनायां स्याद् गणेशे प्रथमे चये' इति शब्दार्णवे । सादरं यथा तथा वीक्ष्यमाणः सन् । प्रियवस्तुसादृश्यादतिप्रियत्वं भवेदिति भावः । त्रयाणां भुवनानां समाहारस्त्रिभुवनम् । 'तद्धितार्थ—इत्यादिना समासः । तस्य गुरोस्त्रैलोक्यनाथस्य चण्डीश्वरस्य कात्यायनीवल्लभस्य पुण्यं पावनं धाम महाकालाख्यं स्थानं याया गच्छेः । विध्यर्थे लिङ् । श्रेयस्करत्वात्सर्वथा यातव्यमिति भावः । उक्तं च स्कान्दे—'आकाशे तारकं लिङ्गं पाताले हाटकेश्वरम् । मर्त्यलोके महाकालं दृष्ट्वा काममवाप्नुयात् ।' इति । न केवलं मुक्तिस्थानमिदं किंतु विलासस्थानमपीत्याह—धूतेति । कुवलयरजोगन्धिभिरुत्पलपरागगन्धवद्भिस्तोयक्रीडासु निरतानामासक्तानां युवतीनां स्नानं स्नानीयं चन्दनादि । करणे ल्युट् । 'स्नानीयेऽभिषवे स्नानम्' इति यादवः । तेन तिक्तैः सुरभिभिः 'कटुतिक्तकषायास्तु सौरभे च प्रकीर्तिताः' इति हलायुधः । सौगन्ध्यातिशयार्थं विशेषणद्वयम् । गन्धवत्या नाम नद्यास्तत्रत्याया मरुद्भिर्मारुतैर्धूतोद्यानं कम्पिताक्रीडमिति धाम्नो विशेषणम् ॥ ३३ ॥

चारि०—जालोद्गीर्णैरिति, भर्तुरिति च युग्मम् । भो मेघ ! त्वं चण्डीश्वरस्य महाकालस्य पुण्यं पवित्रं धाम स्थानं याया गच्छेः । कीदृशस्य त्रिभुवनगुरोः त्रिलोकीभर्तुः । कीदृशस्त्वम् । इति हेतोर्गणैः नन्दिप्रभृतिभिः सादरमादरपूर्वकं वीक्ष्यमाणः । इति किम् । भर्तुर्महेश्वरस्य कण्ठच्छविरसौ नीलः । कीदृशं धाम । मरुद्भिर्वायुभिः धूतोद्यानं धूतमीषत्कम्पितमुद्यानम् आक्रीडो यस्य तत् । एतेन मान्द्योक्तिः ।

कीदृशैः कुवलयानामुत्पलानां रजोगन्ध एषामस्ति तैः। एतेन सौगन्ध्योक्तिः। 'स्यादुत्पलं कुवलयमि'त्यमरः। पुनः कीदृशैः। गन्धवत्या नदीभेदाया: तोये जले या क्रीडा लीला तस्यां निरतास्तत्परा या युवतयः तरुण्यः तासां स्नाने तिक्तो रसो रागो येषां ते तैः। एतेन शैत्योक्तिः। 'तिक्तो रससुगन्धयोरि'ति मेदिनीकारः। 'पुमानाक्रीड उद्यानमि'त्यमरः। किं कृत्वा। अस्या उज्जयिन्याः हर्म्येषु धवलगृहेषु धनिनां वासेषु खेदमायासं नीरवाऽपनीय। कीदृशः सन् अध्वना दीर्घमार्गचलनेन खिन्नः क्लान्तः आत्मा यस्य तव स त्वम्। कीदृशेषु हर्म्येषु कुसुमसुरभिषु पुष्पसुगन्धिषु। पुनः कीदृशेषु ललितवनितापादरागाङ्कितेषु मनोहरस्त्रीचरणलाक्षारसजातचिह्नेषु। त्वं कीदृशः। केशसंस्कारधूपैः उपचितवपुः प्रवरधूपत्वात् प्रवृद्धशरीरः। पुनः कीदृशस्त्वम्। भवनशिखिभिर्गृहमयूरैः बन्धुप्रीत्या मित्रस्नेहेन दत्तः नृत्यमेवोपहारो यस्मै स त्वम्। 'हर्म्यादि धनिनां वास' इत्यमरः। 'धाम देहे गृहे रश्मौ स्थाने जन्मप्रभावयोः' ॥ ३२–३३ ॥

भाव०—हे जलद ! तत्रोज्जयिन्यां गवाक्षमार्गनिर्यातैर्महिलाकेशवासनार्थैर्गन्धद्रव्यधूपैः परिपुष्टशरीरः, गृहमयूरैश्च त्वद्‌गर्जनश्रुत्या मुदितैर्नृत्यक्रियया संभावितस्त्वं पुष्पैः सुगन्धिषु सुन्दरस्त्रीचरणलाक्षारसचिह्नितेषु धनिनां भवनेषु पुरीशोभां निरीक्षमाणो मार्गश्रमापनयनं विधेहि ॥ ३२ ॥

भाव०—हे जलद ! उज्जयिन्यां पावनतमं श्रीमहाकालमन्दिरं याहि। तत्र स्वभर्तुर्नीलकण्ठस्य कण्ठच्छविधारकत्वेन त्वां सादरं शिवगणा वीक्षिष्यन्ते। अपि च तन्महाकालमन्दिरं जलक्रीडातत्परयुवतिजनस्नानीयचन्दनादिना सुरभिभिः पद्मपरागगन्धवद्भिर्गन्धवत्याः सरितः समीरैः कम्पिताक्रीडं नूनमेव प्रेक्षणार्हम् ॥ ३३ ॥

सौ०—हे मेघ ! उज्जयिनी नगरीमें खिड़कियोंसे निकले हुए महिलाओंके केशसंस्कार धूपोंसे परिपुष्ट शरीरवाले तथा मेघरूपी बन्धुके प्रेमके कारण मयूरगणों द्वारा नृत्यरूपी उपहार प्राप्त किए हुए आप रमणियोंके चरणोंमें लगे हुए महावरके लाल-लाल रंगसे लाञ्छित होकर तथा फूलोंकी गन्धसे परिव्याप्त होकर धनवानोंके गृहों की शोभा देखते हुए अपने परिश्रमको दूर कीजियेगा ॥ ३२ ॥

सौ०—हे मेघ ! वहाँ आपको महादेवजीके गण सादर देखेंगे यह सोचते हुए कि आपकी दीप्ति उनके स्वामी महादेवजीके कण्ठके समान है। आप उन गणोंके द्वारा देखे जानेपर तीनों लोकोंसे पूजित चण्डीश्वर (पार्वती-परमेश्वर) महाकालके मन्दिरमें गमन करना। जिस महाकालके स्थानके आरामको (उद्यानको), पद्मपरागकी गन्धसे युक्त होकर तथा जलक्रीडामें आसक्त सुन्दरियों (युवतियों) के चन्दनादि रसोंसे सुगन्धित गन्धवती नदीके संसर्गयुक्त पवन, कँपाया करता है ॥ ३३ ॥

अप्यन्यस्मिञ्जलधर ! महाकालमासाद्य काले
स्थातव्यं ते नयनविषयं यावदत्येति भानुः ।
कुर्वन्संध्याबलिपटहतां शूलिनः श्लाघनीया-
मामन्द्राणां फलमविकलं लप्स्यसे गर्जितानाम् ॥ ३४ ॥

सञ्जी०—अपीति । युग्मम् । हे जलधर ! महाकालं नाम पूर्वोक्तं चण्डीश्वर-स्थानमन्यस्मिन्सन्ध्यातिरिक्तेऽपि कालं आसाद्य प्राप्य ते तव स्थातव्यम् । त्वया स्थातव्यमित्यर्थः । 'कृत्यानां कर्तरि वा' इति षष्ठी । यावद्यावता कालेन भानुः सूर्यो नयनविषयं दृष्टिपथमत्येत्यतिक्रामति । अस्तमयकालपर्यन्तं स्थातव्यमित्यर्थः । यावदित्येतदवधारणार्थे । 'यावत्तावच्च साकल्येऽवधौ मानेऽवधारणे' इत्यमरः । किमर्थमत आह—कुर्वन्निति । श्लाघनीयां प्रशस्यां शूलिनः शिवस्य संध्यायां बलिः पूजा तत्र पटहतां कुर्वन्सम्पादयन्नामन्द्राणामीषद्गम्भीराणां गर्जितानामविकल-मखण्डं फलं लप्स्यसे प्राप्स्यसि । लभेः कर्तरि लृट् । महाकालनाथबलिपटहत्वेन विनियोगात्त गर्जितसाफल्यं स्यादित्यर्थः ॥ ३४ ॥

चारि०—अपीति । जलं धारयतीति जलधरस्तस्य सम्बुद्धौ भो जलधर मेघ ! अन्यस्मिन्नपि काले सन्ध्याया अन्यत्रापि समये महाकालं देवस्थानविशेषमासाद्य प्राप्य ते त्वया तावत्स्थातव्यं यावद्भानुः सूर्यो नयनविषयं नेत्रगोचरत्वमत्येति अतिक्रामति । अस्तं यातीत्यर्थः । त्वमामन्द्राणामीषद्गम्भीराणां गर्जितानामवि-कलं सम्पूर्णं फलं लप्स्यसि प्राप्स्यसि । किं कुर्वन् शूलिनो महेश्वरस्य सन्ध्याबलिपट-हतां देवपूजानकत्वं कुर्वन् विदधत् । कीदृशीम् । श्लाघनीयां स्तवनीयां । 'कलो मन्द्रस्तु गम्भीर' इत्यमरः । 'बलिः पूजोपहारे चे'ति वैजयन्ती । 'आनकः पटहोऽस्त्री-स्यादि' त्यमरः । 'शिवः शूली महेश्वर' इत्यमरः ॥ ३४ ॥

भाव०—हे जलद ! सन्ध्यातिरिक्तेऽपि काले महाकालमन्दिरं प्राप्तस्त्वं सूर्यास्त-मनकालपर्यन्तं तत्प्रतीक्षां कुरु । प्रदोषे शंकरपूजासमये ईषद्गम्भीरं गर्जितं कुर्वंस्त्वं पूजापटहभावं लब्ध्वा गर्जितसाफल्यं प्राप्स्यसि ॥ ३४ ॥

सौ०—हे मेघ ! यदि आप महाकालके मन्दिरपर, सायंकालको न पहुंचकर , अन्य समयमें पहुँचे तो आप वहाँ सायंकालतक (सूर्यास्त तक) ठहर जायें । आप प्रदोषकालमें (सांयकालमें) प्रशंसनीय पवित्र पूजनके समय नगाड़ेकी ध्वनिका काम अपनी गर्जनध्वनि द्वारा पूर्ण करके उस विधिको पूरी तरह सफल बना दीजिये ॥ ३४ ॥

पादन्यासैः क्वणितरशनास्तत्र लीलावधूतै-
रत्नच्छायाखचितबलिभिश्चामरैः क्लान्तहस्ताः ।

वेश्यास्त्वत्तो नखपदसुखान्प्राप्य वर्षाग्रबिन्दू-
नामोक्ष्यन्ते त्वयि मधुकरश्रेणिदीर्घान्कटाक्षान् ॥ ३५ ॥

सञ्जी०—पादन्यासैरिति । तत्र सन्ध्याकाले । पादन्यासैश्चरणनिक्षेपैर्नृत्याङ्गैः क्वणिताः शब्दायमाना रशना यासां तास्तथोक्ताः । क्वणतेरकर्मकत्वात् 'गत्यर्थाकर्मक—' इत्यादिना कर्तरि क्तः । लीलया विलासेनावधूतैः । 'बलिश्चामरमणीनां छायया कान्त्या खचिता रूषिता वलयश्चामरदण्डाः येषां तैः । 'वलिश्चामरदण्डे च जराविश्लथचर्मणि' इति विश्वः । चामरैर्बालव्यजनैः क्लान्तहस्ताः । एतेन देशिकं नृत्यं सूचितम् । तदुक्तं नृत्यसर्वस्वे-'खड्गकन्दुकवस्त्रादिदण्डिकाचामरस्रजः । वीणां च धृत्वा यत्कुर्युर्नृत्यं तद् देशिकं भवेत् ।' इति । वेश्या महाकालनाथमुपेत्य नृत्यन्त्यो गणिकास्त्वत्तो नखपदेषु नखक्षतेषु सुखान् सुखकरान् । 'सुखहेतौ सुखे सुखम्' इति शब्दार्णवे । वर्षस्याग्रबिन्दून्प्रथमबिन्दून्प्राप्य त्वयि मधुकरश्रेणिदीर्घान्कटाक्षानपाङ्गानामोक्ष्यन्ते । 'परैरुपकृताः सन्तः सद्यः प्रत्युपकुर्वते' इति भावः । कामिनीदर्शनीयस्वलक्षणं शिवोपासनाफलं सद्यो लप्स्यस इति ध्वनिः ॥३५॥

चारि०—पादन्यासैरिति । भो मेघ ! वेश्याः पण्यस्त्रियस्त्वयि भवति कटाक्षपान् वक्रावलोकितानि मोक्ष्यन्ते त्वां कटाक्षैरालोकयिष्यन्तीति भावः । किं कृत्वा त्वत्तो भवतो नखपदानि करजलक्ष्माणि सुखयन्तीति सुखास्तान् वर्षाग्रे बिन्दून् प्रावृट्प्रथमविप्रुषः प्राप्य किंविधान् कटाक्षान् मधुकरश्रेणिदीर्घान् भ्रमरपङ्क्तिदीर्घान् । श्यामानित्यर्थः । वेश्याः कीदृश्यः । पादन्यासेन नृत्यकरणात् चरणविक्षेपेण क्वणिताः शब्दायमाना मेखला यासां ताः । पुनः कीदृश्यः । चामरैर्बालव्यजनैः क्लान्ताः खिन्नाः हस्ताः पाणयो यासां ताः । चामरैः कीदृशैः लीलया क्रीडयाऽवधूतैः । पुनः कीदृशैः रत्नच्छायया मणिदीप्त्या खचिता वलयः करा येस्तानि तैः । 'पदं व्यवसितत्राणस्थानलक्ष्माङ्घ्रिवस्तुष्वि'त्यमरः । 'करोपहारयोः पुंसि बलिरि' त्यमरः ॥

भावः—हे जलद ! तत्र सायंकाले महाकालसेवावसरे सविलासं चरणन्यासैः शब्दायमानरशनाश्चामरान्दोलनैश्च क्लान्तहस्ता गणिकास्त्वत्तो नखक्षतेषु सुखकरान् वृष्टेः प्रथमबिन्दूनधिगत्य परमप्रीतास्त्वां कटाक्षैर्वीक्षिष्यन्ते ॥ ३५ ॥

सौ०—हे मेघ ! उस महाकाल-मन्दिरमें सन्ध्या समय महाकालकी सेवामें तत्पर लीलाके साथ चरणोंको चलाती हुई और शब्दायमान मेखलाको धारण किये हुए तथा जिनके हाथोंमें रत्नजटित चामरदण्डयुक्त बालव्यजन (छोटे पंखे) हैं, जिसके चलानेसे उन लोगोंके हाथ क्लान्त हो गये हैं । वे वेश्याएँ जो वर्षा की बूँदें उनके नखक्षतोंको सुखकारी हैं उन बूंदोंको आपके द्वारा प्राप्तकर आपके ऊपर भ्रमरपंक्तिके सदृश दीर्घ अपांगों (कटाक्षों) को डालेंगी ॥ ३५ ॥

पश्चादुच्चैर्भुजतरुवनं मण्डलेनाभिलीनः
सान्ध्यं तेजः प्रतिनवजपापुष्परक्तं दधानः ।
नृत्यारम्भे हर पशुपतेरार्द्रनागाजिनेच्छां
शान्तोद्वेगस्तिमितनयनं दृष्टभक्तिर्भवान्या ॥ ३६ ॥

सञ्जी०—पश्चादिति । पश्चात्सन्ध्याबल्यनन्तरं पशुपतेः शिवस्य नृत्यारम्भे ताण्डवप्रारम्भे प्रतिनवजपापुष्परक्तं प्रत्यग्रजपाकुसुमारुणं सन्ध्यायां भवं सान्ध्यं तेजो दधानः । उच्चैरुन्नतं भुजा एव तरवस्तेषां वनं मण्डलेन मण्डलाकारेणाभिलीनोऽभिव्याप्तः सन् । कर्तरि क्तः । भवान्या भवपत्न्या । 'इन्द्रवरुणभवशर्वरुद्रमृडहिमारण्ययवयवनमातुलाचार्याणामानुक्' इति ङीष् । आनुगागमश्च । शान्त उद्वेगो गजाजिनदर्शनभयं ययोस्ते अत एव स्तिमिते निश्चले नयने यस्मिन्कर्मणि तत्तथोक्तम् । 'उद्वेगस्त्वरिते क्लेशे भये मन्थरगामिनि' इति शब्दार्णवे । भक्तिः पूज्येष्वनुरागः । भावार्थे क्तिन्प्रत्ययः । दृष्टा भक्तिर्यस्य स दृष्टभक्तिः सन् । पशुपतेरार्द्रं शोणितार्द्रं यन्नागाजिनं गजचर्म । 'अजिनं चर्म कृत्तिः स्त्री' इत्यमरः । तत्रेच्छां हर निवर्तय । त्वमेव तत्स्थाने भवेत्यर्थः । गजासुरवधानन्तरं भगवान्महादेवस्तदीयमार्द्राजिनं भुजमण्डलेन बिभ्रत्ताण्डवं चकारेति प्रसिद्धिः । दृष्टभक्तिरिति कथं रूपसिद्धिः । दृष्टशब्दस्य 'स्त्रियाः पुंवत्–' इत्यादिना पुंवद्भावस्य दुर्घटत्वादपूरणीप्रियादिष्विति निषेधात् । भक्तिशब्दस्य प्रियादिषु पाठादिति । तदेतच्चायं दृष्टभक्तिरिति शब्दमाश्रित्य प्रतिविहितं गणव्याख्याने दृष्टं भक्तिरस्येति नपुंसकं पूर्वपदम् । धात्वर्थनिवृत्तिपरत्वे दृष्टशब्दाल्लिङ्गविशेषस्यानुपकारित्वात्स्त्रीत्वमविवक्षितमिति । भोजराजस्तु—'भक्तौ च कर्मसाधनायामि' त्यनेन सूत्रेण भज्यते सेव्यत इति कर्मार्थत्वे भवानीभक्तिरित्यादि भवति । भावसाधनायां तु स्थिरभक्तिर्भवान्यामित्यादि भवति' इत्याह । तदेतत्सर्वं सम्यग्विवेचितं रघुवंशसञ्जीविन्यां 'दृष्टभक्तिरिति ज्येष्ठे' इत्यत्र । तस्मात् दृष्टभक्तिरित्यत्रापि मतभेदेन पूर्वपदस्य स्त्रीत्वेन नपुंसकत्वेन च रूपसिद्धिरस्तीति स्थितम् ॥ ३६ ॥

चारि०—पश्चादिति । भो मेघ ! त्वं नृत्यारम्भे नर्तनोपक्रमे पशुपतेर्महादेवस्य आर्द्रनागाजिनेच्छां हर । आर्द्रस्य रुधिरावलिप्तस्य गजाजिनस्य हस्तिचर्मणः इच्छां वाञ्छां हर दूरीकुरु । त्वं कीदृशः पश्चान्मण्डलेन अपरदेशेन उच्चैरुन्नतानां भुजतरूणां वृक्षविशेषाणां वनं काननमभिलीनः प्राप्तः किं कुर्वाणः सान्ध्यं सन्ध्यासम्बन्धि
वृक्षविशेषाणां वनं काननमभिलीनः प्राप्तः किं कुर्वाणः सान्ध्यं सन्ध्यासम्बन्धि
तेजो दधानः । तेजः कीदृशं प्रतिनवं नवीनं यज्जपापुष्पं बन्धूककुसुमं तद्वदिव रक्तमरुणम् । त्वं कीदृशः । भवान् पार्वत्या दृष्टभक्तिः विलोकितसेवः । कथं यथा स्यात् शान्तोद्वेगेन गतक्लमेन स्तिमिते निश्चले नयने यत्र दर्शने तत्तथा । 'मण्डलं परिधौ

कोष्ठे देशे द्वादशराशिष्वि' ति मेदि०। 'स्तिमितोऽचलार्द्रयोरि' ति मे०। 'उद्वेगः क्लमशीलके' ॥ ३६ ॥

भाव०—हे जलद ! तत्र महाकालताण्डवकाले सायन्तनमरुणं तेजो बिभ्रत् त्वं शंभोर्भुजतरुवनं मण्डलाकारेणाभिव्याप्य भगवत आर्द्रनागाजिनधारणकामनां संपादय। तस्मिन् काले भगवती भवानी तव भक्ति शान्तेन निश्चलेन च चक्षुषा वीक्षिष्यते ॥ ३६ ॥

सौ०—हे मेघ ! आप इस रीतिसे वहाँ सायं पूजा हो जानेके पश्चात्, जपाकुसुमके तुल्य सायंकालिक दीप्तिको धारण किये हुए, महादेवजीके भुजारूपी वृक्षोंके वनको मण्डलाकार घेर लें, जब वे ताण्डव नृत्यका प्रारम्भ करें, तब उन भगवान् शङ्करकी आर्द्र गजचर्म ओढ़नेकी अभिलाषा पूर्ण करिये ॥ ३६ ॥

इत्थं महाकालनाथस्य सेवाप्रकारमभिधाय पुनरपि नगरसञ्चारप्रकारमाह—

गच्छन्तीनां रमणवसतिं योषितां तत्र नक्तं
रुद्धालोके नरपतिपथे सूचिभेद्यैस्तमोभिः।
सौदामन्या कनकनिकषस्निग्धया दर्शयोर्वीं
तोयोत्सर्गस्तनितमुखरो मा स्म भूर्विक्लवास्ताः ॥ ३७ ॥

सञ्जी०—गच्छन्तीनामिति। तत्रोज्जयिन्यां नक्तं रात्रौ रमणवसतिं प्रियभवनं प्रति गच्छन्तीनां योषिताम्। अभिसारिकाणामित्यर्थः। सूचिभिर्भेद्यैः। अतिसान्द्रैरित्यर्थः। तमोभी रुद्धालोके निरुद्धदृष्टिप्रसारे नरपतिपथे राजमार्गे कनकस्य निकषो निकष्यत इति व्युत्पत्त्या निकष उपलगतरेखा तस्येव स्निग्धं तेजो यस्यास्तया। 'स्निग्धं तु मसृणे सान्द्रे रम्ये क्लीबे च तेजसि' इति शब्दार्णवे। सुदाम्नाद्रिणैकदिक्सौदामनी विद्युत् 'तेनैकदिक्' इत्यण्प्रत्ययः। तयोर्वीं मार्गं दर्शय। किंच तोयोत्सर्गस्तनिताभ्यां वृष्टिगर्जिताभ्यां मुखरः शब्दायमानो मा स्म भूः। कुतः। ता योषितो विक्लवा भीरवः। ततो वृष्टिगर्जिते न कार्ये इत्यर्थः। नात्र तोयोत्सर्गसहितं स्तनितमिति विग्रहः। विशिष्टस्यैव केवलस्तनितस्याप्यनिष्टत्वात्। न च द्वन्द्वपक्षेऽप्याच्तरपूर्वनिपातशास्त्रविरोधः 'लक्षणहेत्वोः क्रियायाः' इति सूत्र एव विपरीतनिर्देशेन पूर्वनिपातशास्त्रस्यानित्यत्वज्ञापनादिति ॥ ३७ ॥

चारि०—गच्छन्तीनामिति। भो मेघ ! तत्र नक्तं रात्रौ रमणवसतिं कान्तवेश्म गच्छन्तीनां व्रजन्तीनां योषितां नरपतिपथे राजमार्गविषये सौदामन्या विद्युता उर्वीं दर्शय। कीदृशे मार्गे सूचिभेद्यैर्निबिडैस्तमोभिरन्धकारैः रुद्ध आच्छादित आलोकः उद्योतः प्रकाशो यस्मिन्। सौदामन्या कीदृश्या कनकनिकषवत् सुवर्णपरीक्षापाषाणवत् स्निग्धया मनोज्ञया गौरवर्णयेत्यर्थः। तोयोत्सर्गेण जलत्यागेन यत् स्तनितं तेन मुखरः शब्दायमानस्त्वं मा स्म भूः। कुतो यतस्ता योषितो विक्लवाः।

'वसती रात्रिवेश्मनोरि' त्यमरः। 'तडित्सौदामनी विद्युच्चञ्चला चपला अपी' त्यमरः। 'आलोकौ दर्शनद्योतावि' त्यमरः ॥ ३७ ॥

भाव०—हे जलद ! तत्रोज्जयिन्यां रात्रौ रमणभवनं यान्तीनां कामिनीनां राजमार्गे निविडान्धकारेणाभिव्याप्ते सति विद्युत्प्रकाशेन ताभ्यो वर्त्म प्रदर्शयेः। भीरुप्रकृतीस्ता वृष्टिगर्जिताभ्यां न च भीषयेः ॥ ३७ ॥

सौ०—हे मेघ ! रातके समय उस उज्जयिनी नगरीमें गाढ़ अन्धकारसे न दीखनेवाले मार्गमें अपने रमणोंके समीप जाती हुई रमणियोंको अपनी विद्युत्-रेखा द्वारा मार्ग दिखाइये जो विद्युत्-रेखा कसौटीपर सोनेकी रेखाके समान चमकदार हो। किन्तु, आप उन्हें मार्ग दिखाते समय गर्जनध्वनि करते हुए पानी न बरसावें, क्योंकि वहाँकी रमणियाँ अति भयभीत-स्वभावकी हैं ॥ ३७ ॥

तां कस्यांचिद्भवनवलभौ सुप्तपारावतायां
नीत्वा रात्रिं चिरविलसनात्खिन्नविद्युत्कलत्रः।
दृष्टे सूर्ये पुनरपि भवान्वाहयेदध्वशेषं
मन्दायन्ते न खलु सुहृदामभ्युपेतार्थकृत्याः ॥ ३८ ॥

सञ्जी०—तामिति। चिरं विलसनात्स्फुरणात्खिन्नं विद्युदेव कलत्रं यस्य स भवान्सुप्ताः पारावताः कलरवा यस्यां तस्यां। विविक्तायामित्यर्थः। 'पारावतः कलरवः कपोतः' इत्यमरः। जनसंचारस्तत्रासम्भावित एवेति भावः। कस्यांचिद्भवनवलभौ। गृहाच्छादनोपरिभाग इत्यर्थः। 'आच्छादनं स्याद्वलभी गृहाणाम्' इति हलायुधः। तां रात्रिं नीत्वा सूर्ये दृष्टे सति। उदिते सतीत्यर्थः। पुनरप्यध्वशेषं वाहयेत्। तथाहि सुहृदां मित्राणामभ्युपेतार्थस्याङ्गीकृतार्थस्य प्रयोजनस्य कृत्या क्रिया यैस्ते। अभ्युपेतसुहृदर्था इत्यर्थः। सापेक्षत्वेऽपि गमकत्वात्समासः। 'कृत्या क्रियादेवतयोः कार्ये स्त्री कुपिते त्रिषु' इति यादवः। 'कृञः श च' इति चकारात्क्यप्। न मन्दायन्ते खलु न मन्दा भवन्ति हि। न विलम्बन्त इत्यर्थः। 'लोहितादिडाज्भ्यः क्यष्' इति क्यष्। 'वा क्यषः' इत्यात्मनेपदम् ॥ ३८ ॥

चारि०—तामिति। भो मेघ ! सूर्ये भास्करे दृष्टे विलोकिते सति पुनरपि भूयो भवान् अध्वनो मार्गस्य शेषं वाहयेत्प्राप्नुयात्। किं कृत्वा कस्यांचित् भवनवलभौ गृहाट्टालिकायां तां रात्रिं नीत्वा गमयित्वा। किंविशिष्टायां सुप्तपारावतायां सुप्ताः पारावताः गृहकपोता यस्यां सा तस्याम्। भवान् किंभूतः। खिन्नविद्युत्कलत्रः खिन्ना चमत्काररहिता या विद्युत्सौदामनी सैव कलत्रं भार्या यस्य सः। कस्मात्। चिरविलसनात् चिरं चिरकालं विलसनं चमत्कारस्तस्मात्। अन्यस्याऽपि रममाणस्य विलासिनः बहुकालं सुरतकरणात् अवश्यमेव स्त्री खिन्ना भवति शिथिलशरीरा जायते। खलु निश्चितं सुहृदां मित्राणामभ्युपेता स्वीकृता अर्थे प्रयोजने

कृत्या कार्यक्रिया यैस्ते न मन्दायन्ते न सालसा भवन्ति। 'फलत्रं श्रोणिभार्ययोः।' 'कृत्या क्रियादेवतयोरि' त्यमरः॥ ३८॥

भाव०—हे जलद! अपि च तत्रैव कस्यांचिद् भवनवलभौ चिरविलसनाच्छ्रान्तविद्युत्कलत्रस्त्वं तां रात्रिं सूर्योदय एव समुत्थाय स्वीकृतमित्रकार्यतया पुनरवशिष्टमार्गातिक्रमणं कुरु॥ ३८॥

सौ०—हे मेघ! आपकी विद्युतरूपिणी रमणी अधिक समयतक चमकनेके कारण थकावट प्राप्त करेगी। अतः वहां किसी गृहके ऊपरके छतके भागमें जहाँ कपोत (कबूतर) आदि सोये हुए हों, सोकर रात बिता दें। पुनः शेष मार्गको, सूर्योदयके पश्चात्, समाप्त करें। क्योंकि, सुहृदोंके कामोंको अङ्गीकार करके सज्जन मन्द नहीं पड़ते (ढिलाई नहीं करते)॥ ३८॥

तस्मिन्काले नयनसलिलं योषितां खण्डितानां
शान्तिं नेयं प्रणयिभिरतो वर्त्म भानोस्त्यजाशु।
प्रालेयास्रं कमलवदनात्सोऽपि हर्तुं नलिन्याः
प्रत्यावृत्तस्त्वयि कररुधि स्यादनल्पाभ्यसूयः॥ ३९॥

सञ्जी०—तस्मिन्निति। तस्मिन्काले पूर्वोक्ते सूर्योदयकाले प्रणयिभिः प्रियतमैः खण्डितानां योषितां नायिकाविशेषाणाम्। 'ज्ञातेऽन्यासङ्गविकृते खण्डितेर्ष्याकषायिता' इति दशरूपके। नयनसलिलं शान्तिं नेयं नेतव्यम्। नयतिर्द्विकर्मकः। अतो हेतोर्भानोर्वर्त्माशु शीघ्रं त्यज। तस्यावरको मा भूरित्यर्थः। विपक्षेऽनिष्टमाह—सोऽपि भानुः। नलान्यम्बुजानि यस्याः सन्तीति नलिनी पद्मिनी। 'तृणेऽम्बुजे नलं ना तु राज्ञि नाले तु न स्त्रियाम्' इति शब्दार्णवे। तस्याः स्वकान्तायाः कमलं स्वकुसुममेव वदनं तस्मात्प्रालेयं हिममेवास्रमश्रु हर्तुं शमयितुं प्रत्यावृत्तः प्रत्यागतः। नलिन्याश्च भर्तुर्भानोरेशान्तरे नलिन्यन्तरगमनात्खण्डितात्वमिस्याशयः। ततस्त्वयि। करान्शून्हणद्धीति कररुत्। क्विप्। तस्मिन्कररुधि सति। हस्तरोधिनि सतीति च गम्यते। 'बलिहस्तांशवः कराः' इत्यमरः अनल्पाभ्यसूयोऽधिकविद्वेषः स्यात्। प्रायेणेच्छाविशेषविघातात् द्वेषो रोषविशेषश्च कामिनां भवतीति भावः। किंच 'आत्मानं चार्कमीशानं विष्णुं वा द्वेष्टि यो जनः। श्रेयांसि तस्य नस्यन्ति रौरवं च भवेद् ध्रुवम्।' इति निषेधात्कार्यहानिर्भविष्यतीति ध्वनिः॥३९॥

चारि०—तस्मिन्निति। भो मेघ तस्मिन्काले प्रातःसमये प्रणयिभिः खण्डितानां योषितामनुचितवासकगृहानागतप्रियसन्तप्तानां स्त्रीणां नयनसलिलं लोचनपानीयं शान्तिं नेयं प्रापयितव्यम्। अतो हेतोर्भानोः श्रीसूर्यस्य वर्त्म मार्गं त्यज विमुञ्च। कथमाशु शीघ्रम्। सोऽपि सूर्यः त्वयि अनल्पाभ्यसूयः अधिकेर्ष्यः स्यात्। किंविशिष्टे त्वयि। कररुधि करान् किरणान् रुणद्धीति कररुत् तस्मिन्। स किंभूतः।

नलिन्याः कमलिन्याः कमलवदनात्। कमलं पद्मं तदेव वदनं तस्मात्। प्रालेयास्रं प्रालेयं हिमं तदेवास्त्रमश्रु तद् हर्तुं दूरीकर्तुं प्रत्यावृत्तः पुनरागतः। 'कुतश्चिन्नागतो यस्या उचिते वासके प्रियः। '[? खण्डि०] ता सा मता यथे'ति वसन्ततिलके। 'अवश्यायस्तु नीहारस्तुषारस्तुहिनं हिमम्। प्रालेयं मिहिका चाथे'त्यमरः। अस्त्रः कोणे कचे पुंसि क्लीबमश्रुणि शोणिते' इति मेदिनी ॥ ३९ ॥

भाव०—हे जलद! तत्र प्रातःकाले खण्डितानां नायिकानां नयनसलिलं प्रियतमैः शान्तिं नेयमिति हेतो एवेमार्गं त्यज अर्थात् तस्यावरणकारी मा भूः स च रविः प्रियायाः कमलिन्याः कमलरूपाद्वदनात् प्रालेयरूपमश्रु शमयितुं प्रत्यावतरस्त्वयि कररोधके सति त्वय्यधिकाभ्यसूयः स्यात् ॥ ३९ ॥

सौ०—हे मेघ! प्रभात समयमें उन वल्लभों को, जो रातमें अपनी वल्लभाको छोड़कर अन्याके साथ रमण करते रहे, चाहिये कि, वे अपनी रतिखण्डिता वल्लभाके आँसुओंको पोंछे। इस कारण आप सूर्यका मार्ग उस समय छोड़ दें। क्योंकि, नलिनी के मुखकमलसे हिमरूपी आँसूका अपहरण करने उसके पति रूपी सूर्य लौटकर आ रहे हैं। यदि उनका किरणरूपी हाथ आप द्वारा अवरुद्ध होगा तो आप विद्वेषक होंगे—पापके भागी होंगे ॥३९॥

गम्भीरायाः पयसि सरितश्चेतसीव प्रसन्ने
छायात्मापि प्रकृतिसुभगो लप्स्यते ते प्रवेशम्।
तस्मादस्याः कुमुदविशदान्यर्हसि त्वं न धैर्या-
न्मोघीकर्तुं चटुलशफरोद्वर्तनप्रेक्षितानि ॥ ४० ॥

सञ्जी०—गम्भीराया इति। गम्भीरा नाम सरित्। उदात्तनायिका च ध्वन्यते। तस्याः प्रसन्नेऽनुरक्तत्वाद्दोषरहिते चेतसीव प्रसन्नेऽतिनिर्मले पयसि। प्रकृत्या स्वभावेनैव सुभगः सुन्दरः। 'सुन्दरेऽधिकभाग्ये च दुर्दिनेतरवासरे। तुरीयांशे श्रीमति च सुभगः' इति शब्दार्णवे। ते तव छाया चासावात्मा च। सोऽपि प्रतिबिम्बशरीरं च प्रवेशं लप्स्यते। अपिशब्दात्प्रवेशमनिच्छोरपीति भावः। तस्माच्छायाद्वारापि प्रवेशावश्यंभावित्वादस्या गम्भीरायाः। कुमुदवद्विशदानि धवलानि चटुलानि शीघ्राणि शफराणां मीनानामुद्वर्तनान्युल्लुण्ठनान्येव प्रेक्षितान्यवलोकनानि। 'त्रिषु स्याच्चटुलं शीघ्रम्' इति विश्वः। एतावदेव गम्भीराया अनुरागलिङ्गम्। धैर्याद्धाष्टर्यात्। वैयात्यादिति यावत्। मोघीकर्तुं विफलीकर्तुं नार्हसि। नानुरक्ता विप्रलब्धव्येत्यर्थः धूर्तलक्षणं तु - 'विलश्नाति नित्यं गमितां कामिनीमतिसुन्दरः। उपैत्यरक्तां यत्नेन रक्तां धूर्तो विमुञ्चति।' इति ॥ ४० ॥

चारि०—गम्भीराया इति। भो मेघ, गम्भीरानाम्न्याः सरितो नद्याः चेतसीव प्रसन्ने पयसि ते छायात्मापि प्रतिबिम्बमपि प्रवेशं लप्स्यते प्राप्स्यति। कीदृशः प्रकृत्या स्वभावेन सुभगः सुन्दरः। तस्मात्कारणात् अस्या नद्याः कुमुदवद्वि-

शदानि निर्मलानि चटुलाश्चञ्चला ये शफराः शफर्यो मत्स्यविशेषास्तेषामुद्वर्तनान्येव प्रेक्षितानि विलोकितानि धैर्यात् मोघीकर्तुं निष्फलानि विधातुं नार्हसि। न योग्यो भवसि। अतो मम कार्यस्य विलम्बो भविष्यतीत्यर्थः॥ ४०॥

भाव०—हे जलद! अतिनिर्मले स्वजले छायारूपेण कृतप्रवेशं त्वां गम्भीरा सरिदुदात्तनायिकेव चञ्चलशफरीमीनोल्लुण्ठनरूपैः प्रेक्षितैर्वीक्षिष्यते त्वमपि तानि तस्याः प्रेक्षितानि विफलानि न कुरु॥ ४०॥

सौ०—हे मेघ! अन्तःकरण के सदृश स्वच्छ गम्भीरा नदीके जलमें आपका, स्वभावसे सुन्दर शरीर अवश्य प्रतिबिम्बित होगा। अतः कुमुदके पुष्पके तुल्य सफेद, चटुल मीनोंके शीघ्रतासे उद्वर्त्तन (उलटाव) रूपी नदीके प्रेक्षणको आप धीरताके साथ विफल न करें क्योंकि अनुरक्ताको धोखा देना अनुचित है॥ ४०॥

'तस्याः किंचित्करधृतमिव प्राप्तवानीरशाखं
नीत्वा नीलं सलिलवसनं मुक्तरोधोनितम्बम्।
प्रस्थानं ते कथमपि सखे लम्बमानस्य भावि
ज्ञातास्वादो विपुलजघनां को विहातुं समर्थः॥ ४१॥

सञ्जी०—तस्या इति। हे सखे, प्राप्ता वानीरशाखा वेतसशाखा येन तत्तथोक्तमतएव किंचिदीषत्करधृतं हस्तावलंबितमिव स्थितम्। मुक्तस्त्यक्तो रोधस्तटमेव नितम्बः कटिर्येन तत्तथोक्तम्। 'नितम्बः पश्चिमे श्रोणिभागेऽद्रिकटके कटौ' इति यादवः। नीलं कृष्णवर्णं तस्या गम्भीरायाः सलिलमेव वसनं नीत्वाऽपनीय। प्रस्थानसमये प्रेयसीवसनग्रहणं विरहतापविनोदनार्थमिति प्रसिद्धम्। लम्बमानस्य पीतसलिलभराल्लम्बमानस्य। अन्यत्र जघनारूढस्य। ते तव प्रस्थानं प्रयाणं कथमपि कृच्छ्रेण भावि। कृच्छ्रत्वे हेतुमाह–ज्ञातेति। ज्ञातास्वादोऽनुभूतरसः कः पुमान्विवृतं प्रकटीकृतं जघनं कटिस्तत्पूर्वभागो वा यस्यास्ताम् 'जघनं स्यात्कटौ पूर्वश्रोणिभागापरांशयोः' इति यादवः। विहातुं त्यक्तुं समर्थः। न कोपीत्यर्थः॥ ४१॥

चारि०—तस्या इति। भोः सखे मेघ! लम्बमानस्य जलाधिक्यभरेण तत्र स्थितस्य ते प्रस्थानं गमनं कथमपि गरीयसा कष्टेन भावि भविष्यति। किं कृत्वा। तस्याः गम्भीरायाः सलिलवसनं सलिलमेव वसनं वस्त्रं हृत्वा। किंविशिष्टं मुक्तो रोध एव तटमेव नितम्बः कटिप्रदेशो येन तत्। पुनः कीदृशम्। प्राप्तवानीरशाखं प्राप्ता वानीराणां वेतसानां शाखा विटपाः यस्मिन् येन वा तत्। उत्प्रेक्ष्यते। किञ्चित्करधृतमिव। ईषत्करेण हस्तेन धृतमिव। योषितः करावलम्बितं वस्त्रं हरतोऽन्यस्यापि विलासिनः ततः स्थानाद् गमनं कष्टेन भवति। कुतो न भविष्यतीत्यर्थान्तरमाह। ज्ञातास्वादः अनुभूतवनितासम्भोगः विपुलजघनां पीनजङ्घां स्त्रीं विहातुं त्यक्तुं कः समर्थो भवेदिति कोऽपि न विवृतजघनामिति वा पाठः। तत्रायमन्वयः। विवृतं वस्त्रेण अनाच्छादितं जघनं यस्याः सा ताम्॥ ४१॥

भाव०—हे जलद ! तस्या गम्भीराया वेतसशाखासक्तया किंचिद्धस्तावलम्बितमिव त्यक्ततीररूपकटि नीलं जलमेव वस्त्रमपनीय तस्यां सानुरक्तिरसं पातुं लम्बमानस्य ते प्रयाणं कृच्छ्रेण भावि यतो ज्ञातास्वादः कः पुरुषः प्रकटीकृतजघनां रमणीं त्यक्तुं समर्थः स्यात् ॥ ४१ ॥

सौ०—हे मेघ ! गम्भीरा नामक नदीका नीले रंगका जलरूपी वस्त्र आपके हरण कर लेनेपर किनारे परके वेतके पेड़की डालियोंके जलमें लटकी हुई होनेसे ऐसा मालूम होता है मानों वह नदी तटरूपी नितम्बोंसे खिसके हुए वस्त्रोंको लज्जाके कारण हाथों से पकड़े हुए हैं । इस रीतिसे गम्भीरा नदीपर अधिरोहण करनेपर वहाँसे आपका जाना दुष्कर हो जायगा । क्योंकि–कौनसा ऐसा रसिक पुरुष होगा, जो विलासवती कामिनी को, जिसने अपने जघनस्थलों को प्रदर्शित कर दिया है, उसको त्यागने में समर्थ होगा ॥ ४१ ॥

त्वन्निष्यन्दोच्छ्वसितवसुधागन्धसंपर्करम्यः
स्रोतोरन्ध्रध्वनितसुभगं दन्तिभिः पीयमानः ।
नीचैर्वास्यत्युपजिगमिषोर्देवपूर्वं गिरिं ते
शीतो वायुः परिणमयिता काननोदुम्बराणाम् ॥ ४२ ॥

सञ्जी०—त्वदिति ! त्वन्निष्यन्देन तव वृष्ट्योच्छ्वसिताया उपबृंहिताया वसुधाया भूमेर्गन्धस्य संपर्केण रम्यः । सुरभिरित्यर्थः । स्रोतःशब्देनेन्द्रियवाचिना तद्विशेषो घ्राणं लक्ष्यते । 'स्रोतोऽम्बुवेगेन्द्रिययोः' इत्यमरः । स्रोतोरन्ध्रेषु नासाग्रकुहरेषु यद्ध्वनितं शब्दस्तेन सुभगं यथा तथा दन्तिभिर्गजैः पीयमानः । वसुधागन्धलोभादाघ्रायमाण इत्यर्थः । अनेन मान्द्यमुच्यते । काननेषु वनेषूदुम्बराणां जन्तुफलानाम् 'उदुम्बरो जन्तुफलो यज्ञाङ्गो हेमदुग्धकः' इत्यमरः । परिणमयिता परिपाकयिता । 'मितां ह्रस्वः' इति ह्रस्वः । शीतो वायुः । देवपूर्वं देवशब्दपूर्वं गिरिम् । देवगिरिमित्यर्थः । उपजिगमिषोरुपगन्तुमिच्छोः । गमेः सन्नन्ताद्युप्रत्ययः । ते तव नीचैः शनैर्वास्यति । त्वां वीजयिष्यतीत्यर्थः । सम्बन्धमात्रविवक्षायां षष्ठी । 'देवपूर्वं गिरिम्' इत्यत्र देवपूर्वत्वं गिरिशब्दस्य न तु संज्ञिनस्तदर्थस्येति संज्ञायाः संज्ञित्वाभावादवाच्यवचनं दोषमाहुरालंकारिकाः, तदुक्तमेकावल्याम्–'यदवाच्यस्य वचनमवाच्यवचनं हि तत्' इति । समाधानं तु देवशब्दविशेषितेन गिरिशब्देन शब्दपरेण मेघोपगमनयोग्यो देवगिरिर्लक्ष्यत इति कथंचित्सम्पाद्यम् ॥ ४२ ॥

चारि०—त्वन्निष्यन्देति । भो मेघ देवपूर्वं गिरिं देवगिरिं देशविशेषमुपजिगमिषोर्गन्तुमिच्छोस्ते नीचैरधस्तात् शीतो वातः पवनो वास्यति । किंविशिष्टः । त्वन्निष्यन्दोच्छ्वसितवसुधागन्धसम्पर्करम्यः । त्वन्निष्यन्देन तव जलक्षरणेन उच्छ्वसिता फुल्लिता या वसुधा पृथ्वी तस्या गन्धः सौरभ्यं तस्य सम्पर्कस्तेन रम्यो मनोरमः । एतेन सौगन्ध्यमुक्तम् । अत एव दन्तिभिर्गजैः पीयमानः । कथं यथा स्यात् स्रोतो-

रन्ध्रध्वनितसुभगं यथा स्यात्। स्रोतसः इन्द्रियभूतायाः शुण्डायाः रन्ध्रं ध्वनितं ध्वनिस्तेन सुभगम्। एतेन मान्द्यम्। पुनः कीदृशः कानने वने यान्युदुम्बराणि तेषां परिणमयिता परिपाकं गमयिता। उदुम्बरफलानि नम्रीकुर्वन्नित्यर्थः। न तु पातयन्निति मान्द्यम्। 'स्रोत इन्द्रिये निम्नगामय' इत्यमरः॥ ४२॥

भाव०—हे जलद! तदनन्तरं देवगिरिमुपगन्तुमिच्छुं त्वां स्वजलक्षरणफुल्लित-पृथ्वीसौरभ्ययुक्तः करिभिश्च 'शुण्डारन्ध्रध्वनिसुभगं यथा स्यात्तथाऽऽघ्रायमाणो जाङ्गलोदुम्बरफलानां परिपाकं गमयिता शीतलो मन्दः पवनो वीजयिष्यति॥४२॥

सौ०—हे मेघ! तत्पश्चात् देवगिरि पर्वतके ऊपर गमन करते हुए आपको, आपकी जलवृष्टिसे आनन्दित सांसों को लेनेवाली—भूमि की सुवाससे सुवासित तथा चीत्कार करने वाले हाथियोंकी सूंड़ोंदारा आघ्राण किया जानेवाला और वनोंके गूलर (उदुम्बर) फलोंको पकानेवाला शीतल पवन मन्द-मन्दरूपेण आपको उड़ायेगा॥ ४२॥

तत्र स्कन्दं नियतवसतिं पुष्पमेघीकृतात्मा
पुष्पासारैः स्नपयतु भवान्व्योमगङ्गाजलार्द्रैः।
रक्षाहेतोर्नवशशिभृता वासवीनां चमूना-
मत्यादित्यं हुतवहमुखे संभृतं तद्धि तेजः॥ ४३॥

सञ्जी०—तत्रेति। तत्र देवगिरौ नियता वसतिर्यस्य तम्। नित्यसंनिहित-मित्यर्थः। पुरा किल तारकाख्यासुरविजयसंतुष्टः सुरप्रार्थनावशाद्भगवान्भवानी-नन्दनः स्कन्दो नित्यमहमिह सह शिवाभ्यां वसामीत्युक्त्वा तत्र वसतीति प्रसिद्धिः। स्कन्दं कुमारं स्वामिनम्। पुष्पाणां मेघः पुष्पमेघः। पुष्पमेघीकृतात्मा कामरूपत्वा-त्पुष्पवर्षुकमेघीकृतविग्रहः सन् व्योमगङ्गाजलार्द्रैः। पुष्पासारैः पुष्पसंपातैः। 'धारा-संपात आसारः' इत्यमरः। भवान्स्वयमेव स्नपयत्वभिषिञ्चतु। स्वयंपूजाया उत्तम-त्वादिति भावः। तथा च शम्भुरहस्ये—'स्वयं यजति चेद् देवमुत्तमा सोदरात्मजैः। मध्यमा या यजेद् भृत्यैरधमा याजनक्रिया।' इति। स्कन्दस्य पूज्यत्वसमर्थनेनार्थे-नार्थान्तरं न्यस्यति-रक्षेति। तत् भगवान् स्कन्द इत्यर्थः। विधेयप्राधान्यान्नपुंसक-निर्देशः। वासवस्येमा वासव्यः। 'तस्येदम्' इत्यण्। तासां वासवीनामैन्द्रीणां चमूनां सेनानां रक्षाहेतो रक्षायाः कारणेन। रक्षार्थमित्यर्थः। 'षष्ठी हेतुप्रयोगे' इति षष्ठी। नवशशिभृता भगवता चन्द्रशेखरेण। वहतीति वहः। पचाद्यच्। हुतस्य वहो हुतवहो वह्निस्तस्य मुखे सम्भृतं संचितम्। आदित्यमतिक्रान्तमत्यादित्यम्। 'अत्यादयः क्रान्ताद्यर्थे द्वितीयया' इति समासः। तेजो हि साक्षाद्भगवतो हरस्यैव मूर्त्यन्तरमित्यर्थः। अतः पूज्यमिति भावः। मुखग्रहणं तु शुद्धत्वसूचनार्थम्। तदुक्तं शम्भुरहस्ये—'गवां पश्चाद् द्विजस्याङ्घ्रिर्योगिनां हृत्कवेर्वचः। परं शुचितमं विद्यान्मुखं स्त्रीवह्निवाजिनाम्।' इति॥ ४३॥

चारि०—तत्रेति। भो मेघ तत्र देवगिरौ नियता निश्चला वसतिर्यस्य स तं स्कन्दं भगवान् पुष्पासारैः पुष्पाण्येव आसारा धारासम्पातास्तैः स्नपयतु। कीदृशैः व्योमगङ्गाजलार्द्रैः व्योम्नि आकाशे या गङ्गा तस्याः जलं तेन आर्द्रास्तैः। पुष्पमेघीकृतात्मा। अपुष्पमेघः पुष्पमेघः कृतः पुष्पमेघीकृत आत्मा येन सः पुष्पमेघीकृतात्मा। किमतिपूज्योऽयमित्यत आह–हि यतः वासवीनां वासवस्य अमूः वासव्यस्तासामिन्द्रसम्बन्धिनीनां चमूनां सेनानां रक्षार्थं नवशशिनं कलामात्रं चन्द्रं बिभर्तीति नवशशिभृत्तेन महादेवेन हुतवहमुखे अग्निमुखे सम्भृतं निक्षिप्तम्। कीदृशम् अत्यादित्यमादित्यमतिक्रान्तमत्यादित्यम्। पूर्वं तारकासुरनाशाय वृन्दारकवृन्दैः मूर्द्धभिरभिवन्द्य प्रार्थितेन महेशेन स्वकीयवीर्यं पार्वत्यां सम्भृतं पश्चात्तस्या अशक्तिमालोक्य वह्निमुखे न्यधायि। ततः स्कन्द उत्पन्नः स देवैर्याचितः सन्नत्रैव देवगिरौ वसामीति प्रतिज्ञामकरोदिति द्रष्टव्यम् ॥ ४३ ॥

भा०—हे जलद! तत्र सुरसैन्यरक्षार्थं स्थितिकर्त्तारमग्निमुखनिक्षिप्तशम्भुतेजःस्वरूपं भगवन्तं कार्तिकेयमाकाशगङ्गाजलार्द्रैः पुष्पधारासंपातैरभिषिक्तं कुरु ॥ ४३ ॥

सौ०—हे मेघ! उस देवगिरि पर्वतके ऊपर देवसेनाकी रक्षा के लिये निरन्तर वास करनेवाले सूर्यसे भी अधिक जिस तेजको भगवान् शंकरने हवन कर दिया था। उसी तेजपुञ्जकी मूर्तिरूप स्कन्द भगवान्के ऊपर आप पुष्पमेघका स्वरूप रचकर आकाशगंगाके जलसे आर्द्र कुसुमोंकी वृष्टि करके अभिषेक करियेगा ॥ ४३ ॥

ज्योतिर्लेखावलयि गलितं यस्य बर्हं भवानी
पुत्रप्रेम्णा कुवलयदलक्षेपि कर्णे करोति।
धौतापाङ्गं हरशशिरुचः पावकेस्तं मयूरं
पश्चादद्रिग्रहणगुरुभिर्गर्जितैर्नर्तयेथाः ॥ ४४ ॥

सञ्जी०—ज्योतिरिति। ज्योतिषस्तेजसो लेखा राजयस्तासां वलयं मण्डलं यस्यास्तीति तथोक्तम् गलितं भ्रष्टम्। न तु लौल्यात्स्वयं छिन्नमिति भावः। यस्य मयूरस्य बर्हं पिच्छम् 'पिच्छबर्हे नपुंसके' इत्यमरः। भवानी गौरी। पुत्रप्रेम्णा पुत्रस्नेहेन कुवलयस्य दलं पत्रं तत्रापि तद्योगे यथा तथा कर्णे करोति। दलेन सह धारयतीत्यर्थः। यद्वा कुवलयस्य दलप्रापि दलभाञ्जि दलार्हे कर्णे करोति। क्विन्तात्सप्तमी। दलं परिहृत्य तत्स्थाने बर्हं धत्त इत्यर्थः। नाथस्तु 'कुवलयदलक्षेपि' इति पाठमनुसृत्य 'क्षेपो निन्दापसारणं वा' इति व्याख्यातवान्। हरशशिरुचा हरशिरश्चन्द्रिकया धौतापाङ्गं स्वतोऽपि शौक्ल्यादतिधवलितनेत्रान्तम्। 'अपाङ्गौ नेत्रयोरन्तौ' इत्यमरः। पावकस्याग्नेरपत्यं पावकिः स्कन्दः। 'अत इञ्' इति इञ्। तस्य तं पूर्वोक्तं मयूरं पश्चात्पुष्पाभिषेचनानन्तरमद्रेर्देवगिरेः कर्तुः। ग्रहणेन गुहासंक्रमणेन गुरुभिः प्रतिध्वानमहद्भिरित्यर्थः। गर्जितैर्नर्तयेथा नृत्यं कारय। मार्दङ्गिक-

भावेन भगवन्तं कुमारमुपास्स्वेति भावः। 'नर्तयेथाः' इत्यत्र 'अणावकर्मकाच्चित्तवत्कर्तृकात्' इत्यात्मनेपदापवादः। 'निगरणचलनार्थेभ्यश्च' इति परस्मैपदं न भवति तस्य 'न पादम्याङ्यमाङ्यसपरिमुहरुचिनृतिवदवसः' इति प्रतिषेधात् ॥ ४४ ॥

चारि०—ज्योतिरिति। भो मेघ पश्चात् स्कन्दार्चनादनन्तरं पावकेः स्कन्दस्य तं मयूरं गर्जितैर्मेघनिर्घोषैर्नर्तयेथाः कीदृशैः। अद्रिग्रहणगुरुभिः। अद्रिग्रहणेन कन्दरामध्यसञ्चरणेन गुरुभिर्दीर्घैः। कीदृशं मयूरं। हरशशिरुचा हरस्य महादेवस्य शशिरुक् चूडाचन्द्रज्योत्स्ना यथा धौतौ उज्ज्वलीकृतौ अपाङ्गौ नेत्रान्तौ यस्य स तम्। तं कम्। भवानी पार्वती पुत्रस्य कार्तिकेयस्य प्रेम स्नेहस्तेन यस्य बर्हं पिच्छं कर्णे करोति। कीदृशम्। कुवलयदलक्षेपि। शोभाधिक्यात् कुवलयानां नीलोत्पलानां दलानि पत्राणि क्षेप्तुं तिरस्कर्तुं शीलं यस्य तत्तत्। 'कुवलयदलप्रापी'ति पाठे सप्तम्यन्तं कर्णविशेषणम्। अतिशयाभीष्टपुत्रवाहननर्तनेन पार्वती तव प्रसन्नतमा भविष्यतीति भावः। पुनः कीदृशं ज्योतिर्लेखावलयि। ज्योतिर्लेखाश्चन्द्रिकास्ता एव वलयास्ते सन्ति यस्य तत्तत्। पुनः कीदृशं गलितं स्वतः पतितं नतूत्पाटितमिति भावः कर्णे करोति ॥ ४४ ॥

भाव०—तत्र कार्त्तिकेयस्य वाहनतया सर्वदाऽवस्थितं तं मयूरं कन्दरामध्यसंचरणदीर्घगर्जनैर्नर्त्तयेथाः, यस्य मयूरस्य पिच्छं पुत्रवाहनोद्भवतया प्रीतिपूर्वकं भवानी कर्णे स्थापयति ॥ ४४ ॥

सौ०—हे मेघ! देवगिरि पर्वतके उपर पहुँचने पर तेजकी लेखाओं (रेखाओं) के मण्डलाकार गिरे हुए जिन मोरके पंखोंको अपने पुत्रकी (स्कन्द भगवानकी) वत्सलताके कारण भगवती पार्वती अपने कर्णोंके ऊपर कमलपत्रके स्थानमें धारण करती है। भगवान् शंकर के शिर की चन्द्रिका (चाँदनी) से स्वच्छ नयन-प्रान्तवाले उन स्कन्द भगवान्के वाहन मोरको आप पर्वतकी गुफाओंमें प्रतिध्वनित होनेवाली अपनी प्रबल गर्जनासे नचाइयेगा ॥ ४४ ॥

आराध्यैनं शरवणभवं देवमुल्लङ्घिताध्वा
सिद्धद्वन्द्वैर्जलकणभयाद्वीणिभिर्मुक्तमार्गः।
व्यालम्बेथाः सुरभितनयालम्भजां मानयिष्यन्
स्रोतोमूर्त्या भुवि परिणतां रन्तिदेवस्य कीर्तिम् ॥ ४५ ॥

सञ्जी०—आराध्येति। एनं पूर्वोक्तं शरा बाणतृणानि। 'शरो बाणे बाणतृणे' इति शब्दार्णवे। तेषां वनं शरवणम्। 'प्रनिरन्तःशर—' इत्यादिना णत्वम्। तत्र भवो जन्म यस्य तं शरवणभवम्। 'अवर्ज्यो बहुव्रीहिर्व्यधिकरणो जन्माद्युत्तरपदः' इति वामनः। अवर्ज्योऽनतिक्रम्यत्वादाश्रयणीय इत्यर्थः। देवं स्कन्दम्। 'शरजन्मा षडाननः' इत्यमरः। आराध्योपास्य। वीणिभिर्वीणावद्भिः। [illegible]

सिद्धद्वन्द्वैः सिद्धमिथुनैः। भगवन्तं स्कन्दमुपवीणयितुमागतैरिति भावः। जलकणभयात्। जलसेकस्य वीणाक्वणनप्रतिबन्धकत्वादिति भावः। मुक्तमार्गस्त्यक्तवर्त्मा सन्नुल्लङ्घिताध्वा। कियन्तमध्वानं गत इत्यर्थः। सुरभितनयानां गवामालम्भेन संज्ञपनेन जायत इति तथोक्ताम्। भुवि लोके स्रोतोमूर्त्या प्रवाहरूपेण परिणतां रूपविशेषमापन्नां रन्तिदेवस्य दशपुरपतेर्महाराजस्य कीर्तिम्। चर्मण्वत्याख्यां नदीमित्यर्थः। मानयिष्यन्सत्कारयिष्यन्व्यालम्बेथाः। आलम्ब्यावतरेरित्यर्थः। पुरा किल राज्ञो रन्तिदेवस्य गवालम्भेष्वेकत्र संभृताद्रक्तनिष्यन्दाच्चर्मराशेः काचिन्नदी सस्यन्दे। सा चर्मण्वतीत्याख्यायत इति॥

चारि०—आराध्यैनमिति। भो मेघ! एनं पूर्वोक्तं शरवणभवं शरजन्मानं कार्तिकेयमाराध्य पुष्पासारैः सम्पूज्य उल्लङ्घितो विक्रान्तोऽध्वा मार्गो येन स तथा वीणाः सन्त्येषां वीणिभिः सिद्धद्वन्द्वैर्मिथुनैर्मुक्तः मार्गो यस्य स त्वं व्यालम्बेथाः विलम्बं कुर्याः। किं करिष्यन्। स्रोतोमूर्त्या चर्मण्वतीनदीप्रवाहरूपेण भुवि परिणतां रन्तिदेवस्य रन्तिदेवनाम्नो नृपतेः कीर्तिं यशः मानयिष्यन् पूजयिष्यन्। पुनः कीदृशीं सुरभितनयालम्भजां सुरभितनयानां कामधेनूत्पन्नगवामालम्भो मारणं ततो जाता। महाभारते किलैवं श्रूयते दशपुराभिधानस्य देशस्य रन्तिदेवाख्यो भूपतिरभूत्। तस्य गावो देवगवीनां सौन्दर्यादिकमवलोक्य तच्च यज्ञेषु विशसनादिति ताभ्य एवं निशम्य रन्तिदेवमेत्य विज्ञप्तिं चक्रुः स्वामिन् यागेषु त्वमस्मानालम्भेथा येन दिव्यरूपा भवाम इति। सोऽपि यागेषु तां मारयित्वा तासां चर्माणि पर्वतवत् राशीचक्रे ततो रक्तनिष्यन्दात्काचिन्नदी समुत्पेदे तासां चर्मप्रभवत्वाच्चर्मण्वतीमाहुर्वृद्धाः॥ ४४॥

भाव०—हे जलद! इत्थं देवं कार्त्तिकेयं समाराध्य तत्र तत्सेवार्थमुपस्थितैर्वीणावद्भिःसिद्धजातीयमिथुनैर्जलकणसंबन्धजन्यवीणाक्वणनावरोधत्रस्तैर्मुक्तवर्त्मा सन् कञ्चिन्मार्गमतिक्रम्य गवालम्भसम्भवां गोचर्मनिष्यन्दरूपिणीं रन्तिदेवस्य मूर्त्तिमतीं कीर्त्तिं चर्मण्वतीं नदीमुपयाहि॥ ४५॥

सौ०—हे मेघ! आप शरजन्मा स्वामिकार्त्तिकेयकी आराधना करके जब चलने लगेंगे उस समय सिद्ध-दम्पती गण जो वीणाको बजाते हुए स्वामिकार्तिकेयका पूजन करने आते होंगे वे आपका मार्ग त्याग देंगे, क्योंकि आपके जलबिन्दुओंके गिरनेसे उनकी वीणाका स्वर भंग होनेका भय है। अतः आप भी कुछ दूर गमन करके गवालम्भनामक यज्ञसे उद्भूत तथा पृथ्वीपर प्रवाहरूपमें परिणत राजा रन्तिदेव की कीर्तिरूपा चर्मण्वती नामकी नदीका स्वागत करते हुए-वहाँ पर ठहरें॥ ४५॥

त्वय्यादातुं जलमवनते शार्ङ्गिणो वर्णचौरे
तस्याः सिन्धोः पृथुमपि तनुं दूरभावात्प्रवाहम्।

प्रेक्षिष्यन्ते गगनगतयो नूनमावर्ज्य दृष्टी-
रेकं मुक्तागुणमिव भुवः स्थूलमध्येन्द्रनीलम् ॥ ४६ ॥

सञ्जी०—त्वयीति। शार्ङ्गिणः कृष्णस्य वर्णस्य कान्तेश्चौरे। तत्तुल्यवर्ण इत्यर्थः। त्वयि जलमादातुमवनते सति पृथुमपि दूरत्वात्तनुं सूक्ष्मतया प्रतीयमानं तस्याः सिन्धोश्चर्मण्वत्याख्यायाः प्रवाहम्। गगने गतिर्येषां ते गगनगतयः खेचराः सिद्धगन्धर्वादयः अयमपि बहुव्रीहिः पूर्ववज्जन्माद्युत्तरपदेषु द्रष्टव्यः। नूनं सत्यं दृष्टीरावर्ज्य नियम्यैकमेकयष्टिकं स्थूलो महान्मध्यो मध्यमणीभूत इन्द्रनीलो यस्य तं भुवो भूमेर्मुक्तागुणं मुक्ताहारमिव प्रेक्षिष्यन्ते। अत्र अत्यन्तनीलमेघसङ्गतस्य प्रवाहस्य भूकण्ठमुक्तागुणत्वेनोत्प्रेक्षणादुत्प्रेक्षैवेयमितीवशब्देन व्यज्यते। निरुक्ताकारस्तु 'तत्र तत्रोपमी यत्र इवशब्दस्य दर्शनम्' इतीवशब्ददर्शनादत्राप्युपमैवेति बभ्राम॥

चारि०—त्वयीति। भो मेघ गगने व्योम्नि गतिर्येषां ते सिद्धा दूरं यथा स्यात्तथा दृष्टीर्नयनान्यावर्ज्य नमयित्वा तस्याः सिन्धोश्चर्मण्वत्याः प्रवाहं त्वयि जलं समादातुं स्वीकर्तुमवनते लम्बमाने सति भुवः स्थूलो मध्ये इन्द्रनीलमणिर्यस्य तमेकं मुक्तागुणं मौक्तिकस्रजमिव प्रेक्षिष्यन्ते विलोकयिष्यन्ति। कीदृशं प्रवाहम्। पृथुं स्थूलमपि दूरभावात्तनुं कृशं कीदृशं शार्ङ्गिणो विष्णोर्वर्णचौरे दीप्तिमुषि। नीलकान्तावित्यर्थः॥ ४६॥

भाव०—हे जलद! तत्र श्रीकृष्णवर्णतुल्ये त्वयि जलग्रहणाय लम्बमाने सति नभोगामिनः सिद्धादयः पृथुलमपि दूरभावात्सूक्ष्मतया प्रतीयमानं तस्याश्चर्मण्वत्याः प्रवाहं त्वत्संपर्केणेन्द्रनीलमध्यमणिगुम्फितं भुवो मुक्ताहारमिव सकौतुहलं विलोकयिष्यन्ति॥ ४६॥

सौ०—हे मेघ! भगवान कृष्णके तुल्य कान्तिकारी आपके जल लेनेके लिये उतरनेपर, उस चर्मण्वती नदीकी धारा विशाल होनेपर भी, दूर होनेसे, क्षीण (पतली) दीखेगी। उस समय गन्धर्व, किन्नर आदि गगनचारी देवगण आपकी शोभा ऐसी देखेंगे, जैसे पृथिवीने कंठमें मोतीकी माला धारण की हो जिस मालाके बीचमें एक इन्द्रनीलमणि विराज रही हो॥४६॥

तामुत्तीर्य व्रज परिचितभ्रूलताविभ्रमाणां
पक्ष्मोत्क्षेपादुपरिविलसत्कृष्णशारप्रभाणाम्।
कुन्दक्षेपानुगमधुकरश्रीमुषामात्मबिम्बं
पात्रीकुर्वन्दशपुरवधूनेत्रकौतूहलानाम्॥ ४७॥

सञ्जी०—तामिति। तां चर्मण्वतीमुत्तीर्य भ्रुवो लता इव भ्रूलताः उपमितसमासः। तासां विभ्रमा विलासाः परिचिताः बलृप्ता येषु तेषां पक्ष्माणि नेत्रलोमानि। 'पक्ष्म सूत्रे च सूक्ष्मांशे किञ्जल्के नेत्रलोमनि' इति विश्वः। तेषामुत्क्षेपादुन्नमनाद्धेतोः कृष्णाश्च ताः शाराश्च कृष्णशारा नीलशबलाः। 'वर्णो वर्णेन' इति

समासः । 'कृष्णरक्तसिताः शाराः' इति यादवः । ततश्च शारशब्दादेव सिद्धे कार्ष्ण्ये पुनः कृष्णपदोपादानां कार्ष्ण्यप्राधान्यार्थम् । रक्तत्वं तु न विवक्षितमुपमानानुसारा-त्तस्य स्वाभाविकस्य स्त्रीनेत्रेषु सामुद्रिकविरोधादितरस्याप्रसङ्गात् । क्वचिद्भावकथनं तूपपत्तिविषयम् । उपरि विलसन्त्ययः कृष्णशाराः प्रभा येषां तेषाम् । कुन्दानि माध्यकुसुमानि । 'माध्यं कुन्दम्' इत्यमरः । तेषां क्षेप इतस्ततश्चलनं तस्यानुगा अनुसारिणो ये मधुकरा तेषां श्रियं मुष्णन्तीति यथोक्तानाम् क्षिप्यमाणकुन्दानुवि धायिमधुकरकल्पानामित्यर्थः । दशपुरं रन्तिदेवस्य नगरं तस्य वध्वः स्त्रियः । 'वधूर्जाया स्नुषा स्त्री च' इत्यमरः । तासां नेत्रकौतूहलानां नेत्राभिलाषाणाम् । साभिलाषदृष्टीनामित्यर्थः । आत्मबिम्बं स्वमूर्तिं पात्रीकुर्वन्व्रज गच्छ ॥ ४७ ॥

चारि०—अन्यलाभकथनेन प्रोत्साहयन्नाह—तामिति । भो मेघ तां चर्मण्वतीमु-त्तीर्य दशपुराभिधाने नगरे वधूनां नेत्रकौतूहलानामात्मबिम्बं निजस्वरूपं पात्रीकुर्वन् गोचरतां नयन् व्रज याहि । कीदृशानां परिचितभ्रूलतानां विभ्रमा विलासा येषां तेषाम् । कुन्दपुष्पाणां क्षेपमनुगच्छतां मधुकराणां भ्रमराणां श्रियं च शोभां मुष्णन्ति तेषाम् । 'कृष्णरक्तसिताः शारा' इति यादवः । अत्र रक्तसितमात्रे वर्तते पृथक् कृष्णपदोपादानात् ॥ ४७ ॥

भाव०—हे जलद ! चर्मण्वतीमुत्तीर्य दशपुरनगरनिवासिनीनां स्वत्प्रेक्षणार्थ-मूर्ध्वंमुखीनां कामिनीनां नेत्रकौतूहलं वर्धयन् याहि ॥ ४७ ॥

सौ०—हे मेघ ! जलपान करके उस चर्मण्वती नदीको पार करके आगे आप महाराज रन्तिदेवके दशपुर नामक नगरको गमन करते हुए, उस नगरमें कुन्दकुसुमके समीप पर्यटन करते हुए भौरोंकी छवि को चुरानेवाले पलकोंको घुमाकर चलनेवाली रमणियोंके नयनोत्सवोंको बढ़ाते हुए गमन करें ॥ ४७ ॥

ब्रह्मावर्तं जनपदमथ च्छायया गाहमानः
क्षेत्रं क्षत्रप्रधनपिशुनं कौरवं तद्भजेथाः ।
राजन्यानां सितशरशतैर्यत्र गाण्डीवधन्वा
धारापातैस्त्वमिव कमलान्यभ्यवर्षन्मुखानि ॥ ४८ ॥

सञ्जी०—ब्रह्मावर्तमिति । अथानन्तरं ब्रह्मावर्तं नाम जनपदं देशम् । अत्र मनुः—'सरस्वतीदृषद्वत्योर्देवनद्योर्यदन्तरम् । तं देवनिर्मितं देशं ब्रह्मावर्तं प्रचक्षते ।' इति । छाययाऽनातपमण्डलेन गाहमानः प्रविशन्न तु स्वरूपेण । 'पीठक्षेत्राश्रमादीनि परिवृत्यान्यतो व्रजेत्' इति वचनात् । क्षत्रप्रधनपिशुनम् । अत्रापि शिराकपाला-दिमत्तया कुरुपाण्डवयुद्धसूचकमित्यर्थः । 'युद्धमायोधनं जन्यं प्रधनं प्रविदारणम्' इत्यमरः । तत्प्रसिद्धं कुरूणामिदं कौरवं क्षेत्रं भजेथाः । कुरुक्षेत्रं व्रजेत्यर्थः । तत्र

कुरुक्षेत्रे गाण्डयस्यास्तीति गाण्डीवं धनुर्विशेषः। 'गाण्डयजगात्संज्ञायाम्' इति मत्व-र्थीयो वप्रत्ययः। 'कपिध्वजस्य गाण्डीवगाण्डीवौ पुंनपुंसकौ' इत्यमरः। तद्धनुर्यस्य स गाण्डीवधन्वार्जुनः। 'वा संज्ञायाम्' इत्यनङादेशः। सितशरशतैर्निशितबाण-सहस्रै राजन्यानां राज्ञां मुखानि धाराणामुदकधाराणां पातैः कमलानि त्वमिवाभ्य-वर्षदभिमुखं वृष्टवान्। शरवर्षेण शिरांसि चिच्छेदेत्यर्थः॥ ४८॥

चारि०—पवित्रजनपदस्पर्शनेनान्यमङ्गलमुपदिशति—ब्रह्मावर्तमिति। भो जलद अधश्छायया ब्रह्मावर्ताभिधानं जनपदं देशं गाहमानः सन् तत्कुरूणां सम्बन्धि कौरवं क्षत्राणामिदं क्षेत्रं भजेथा आश्रय। कीदृशम्। क्षत्रप्रधनपिशुनं क्षत्रिययुद्ध-सूचकम्। यत्र कुरुक्षेत्रे गाण्डीवं धनुर्यस्य सोऽर्जुनः शितानां तीक्ष्णानां शराणां शतै राजन्यानां भूपानां मुखानि अभ्यवर्षन् अभिषिञ्चन् पूरयाञ्चक्रे इत्यभिप्रायः। कै कानि क इव। धारापातैर्निरन्तरवर्षैः कमलानि त्वमिव। अधश्छाययेत्यनेन पुण्यदेशत्वात् स्वरूपेणाक्रमणं न युक्तमिति सूच्यते। 'युद्धमायोधनं जन्यं प्रधनं प्रविदारणम्'। 'मूर्द्धाभिषिक्तो राजन्य' इत्यमरः। सरस्वती दृषद्वत्योर्देवनद्योर्यदन्त-रम्। तं देवनिर्मितं देशं ब्रह्मवर्तं प्रचक्षते॥ ४८॥

भाव०—हे जलद! तदनन्तरं छायारूपेण ब्रह्मावर्त्तं जनपदं प्रविश्य कुरुक्षेत्रं याहि यत्र पाण्डवोऽर्जुनो निशितशरैः क्षत्रियशिरांसि निरन्तरवर्षैः कमलानि त्वमि-वाभ्यवर्षत्॥ ४८॥

सौ०—हे मेघ! इसके पश्चात् ब्रह्मावर्तदेशमें छायामात्रसे प्रवेश करके आप कौरव—पाण्डवके युद्धको अद्यापि सूचित करनेवाले कुरुक्षेत्रको जाइयेगा। जहां गाण्डीव-धनुर्धारी अर्जुनने सहस्रों बाणोंसे राजाओंके शिरोंको इस तरह काट डाला था जिस तरह जलकी सहस्रों धाराओंसे आप पद्मोंको छिन्न भिन्न कर देते हैं॥ ४८॥

हित्वा हालामभिमतरसां रेवतीलोचनाङ्कां
बन्धुप्रीत्या समरविमुखो लाङ्गली याः सिषेवे।
कृत्वा तासामभिगममपां सौम्य सारस्वतीना-
मन्तःशुद्धस्त्वमपि भविता वर्णमात्रेण कृष्णः॥ ४९॥

सञ्जी०—हित्वेति। बन्धुप्रीत्या कुरुपाण्डवस्नेहेन। न तु भयेन। समरविमुखो युद्धनिस्पृहः। लाङ्गलमस्यास्तीति लाङ्गली हलधरः। अभिमतरसामभीष्टस्वादां तथा रेवत्याः स्वप्रियाया लोचने एवाङ्कः प्रतिबिम्बितत्वाच्चिह्नं यस्यास्तां हालां सुराम्। 'सुरा हलिप्रिया हाला' इत्यमरः। 'अभिप्रयुक्तं देशभाषापदमित्यत्र सूत्रे हालेति देशभाषापदमप्यतीव कविप्रयोगात्साधु' इत्युदाजहार वामनः। हित्वा त्यक्त्वा। दुस्त्यजामपीति भावः। याः सारस्वतीरपः सिषेवे। हे सौम्य सुभग, त्वं तासां सरस्वत्या नद्या इमाः सारस्वत्यस्तासामभिगमनं सेवा कृत्वाऽन्तोऽन्तरा-

स्मनि शुद्धो निर्मलो निर्दोषो भविता। 'ण्वुल्तृचौ' इति तृच्। अपि सद्य एव पूतो भविष्यसीत्यर्थः। 'वर्तमानसामीप्ये वर्त्तमानवद्वा' इति वर्तमानप्रत्ययः। वर्णमात्रेण वर्णेनैव कृष्णः श्यामः। न तु पापेनेत्यर्थः। अन्तःशुद्धिरेव सम्पाद्या न तु बाह्या। बहिः शुद्धोऽपि सूतवधप्रायश्चित्तार्थं सारस्वतसलिलसेवी तत्र भगवान्बलभद्र एव निदर्शनम्। अतो भवताऽपि सरस्वती सर्वथा सेवितव्येति भावः॥ ४९॥

भाव—हे जलद! कौरवपाण्डवयोः समानस्नेहेन महाभारतयुद्धविरतो बलदेवस्तीर्थयात्राप्रसक्तो अवलतिप्रियां वारुणीं परिहाय यस्याः सरस्वत्याः सरितो यत् सलिलं सादरं पीतवान्, तस्यास्तत्सलिलं त्वमपि निपीय बाह्यरूपेण कृष्णवर्णः सन्नप्याभ्यन्तररूपेण शुद्धो भविष्यसि॥ ४९॥

सौ०—हे मेघ! कौरव-पाण्डवोंके स्नेहवश महाभारत-समरसे विमुख होकर बलरामजीने अभीष्ट स्वादवाली अत्यन्त प्रिय तथा रेवतीके नयनोंके चिह्नवाली मदिराको त्यागकर, हे सौम्य! जिन सरस्वती नदीके जलका सेवन किया था, उन्हीं सरस्वती नदीके जलको आप पान करके अन्तःकरणसे निर्मल हो जाइयेगा, केवल स्वरूपमात्रसे आप कृष्णवर्ण दिखायी देंगे॥ ४९॥

तस्माद् गच्छेरनुकनखलं शैलराजावतीर्णां
जह्नोः कन्यां सगरतनयस्वर्गसोपानपङ्क्तिम्।
गौरीवक्त्रभ्रुकुटिरचनां या विहस्येव फेनैः
शंभोः केशग्रहणमकरोदिन्दुलग्नोर्मिहस्ता॥ ५०॥

सञ्जी०—तस्मादिति। तस्मात्कुरुक्षेत्रात्कनखलस्याद्रेः समीपेऽनुकनखलम्। 'अनुर्यत्समया' इत्यव्ययीभावः। शैलराजाद्धिमवतोऽवतीर्णां सगरतनयानां स्वर्गसोपानपङ्क्तिम्। स्वर्गप्राप्तिसाधनभूतामित्यर्थः। जह्नोर्नाम राज्ञः कन्यां जाह्नवीं गच्छेर्गच्छ। विध्यर्थे लिङ्। या जाह्नवी गौर्या वक्त्रे या भ्रुकुटिरचना सापत्न्यरोषाद् भ्रूभङ्गकरणं तां फेनैर्विहस्यावहस्येव। धावल्यात्फेनानां हासत्वेनोत्प्रेक्षा। इन्दौ शिरोमाणिक्यभूते लग्ना ऊर्मय एव हस्ता यस्याः सेन्दुलग्नोर्मिहस्ता सती शम्भोः केशग्रहणमकरोत्। यथा काचित्प्रौढा नायिका सपत्नीमसहमाना स्वबाहुल्यं प्रकटयन्ती स्वभर्तारं सह शिरोरत्नेन केशेष्वाकर्षति तद्वदिति भावः। इदं च पुरा किल भगीरथप्रार्थनया भगवतो गगनपथात्पतन्तीं गङ्गां गङ्गाधरो जटाजूटेन जग्राहेति कथामुपजीव्योक्तम्॥ ५०॥

चारि०—तस्मादिति। हे मेघ तस्मात्कुरुक्षेत्राद् कनखलाख्यस्य पर्वतस्य समयाऽनुकनखलं कनखलसमीपस्थां शैलराजाद्धिमालयादवतीर्णां प्रवृत्तां जह्नुकन्यां गङ्गां गच्छेः। कीदृशीम्। सगरनाम्नो भूपस्य तनयानां पुत्राणां स्वर्गसोपानपङ्क्तिं स्वर्गारोहणनिश्रेणीम्, या गङ्गा गौर्या वक्त्रे मुखे भ्रुकुटिकौटिल्यं फेनैर्विहस्येन्दौ

भालचन्द्रे। ऊर्मय एव हस्ता यस्याः सा सती शम्भोर्महेशस्य केशग्रहणमधिचक्रे इति तस्याः केशग्रहणविलोकनेन क्रुद्धां गौरीं डिण्डीरपिण्डकापव्येन हसन्ती या भातीति तात्पर्यम्। तव स्पर्शे तस्याः श्रीलाभमाह ॥ ५० ॥

भाव०—हे जलद! तदनन्तरं कुरुक्षेत्रादग्रे कनखलसमीपे हिमालयतोऽवतीर्णां सगरतनयपावनविधायिनीं जाह्नवीं याहि, या फेनपङ्क्तिभिः पार्वतीभ्रुकुटिरचनां विहस्येव शम्भोर्जटाजूटाधिरोहणमकरोत् ॥ ५० ॥

सौ०—हे मेघ! सरस्वतीके जलपानके पश्चात् आप उस कुरुक्षेत्र तीर्थसे आगे चलें और कनखलके समीप हिमालय पर्वतसे आविर्भूत तथा महाराज सगरके पुत्रों को स्वर्ग पहुँचानेवाली सोपानपंक्तिरूपा (सीढ़ीके समान) जह्नुकी पुत्री गङ्गाजीके समीप जांय जिन गंगाजीने अपने फेनोंकी राजियों (पंक्तियों) से पार्वतीजीके मुखकी तिरछी भ्रुकुटियोंको हँसकर तथा अपने तरंगरूपी हाथोंसे चन्द्रके सहारे भगवान् शंकरके जटाजूटको पकड़ लिया है ॥ ५० ॥

तस्याः पातुं सुरगज इव व्योम्नि पश्चार्धलम्बी
त्वं चेदच्छस्फटिकविशदं तर्कयेस्तिर्यगम्भः।
संसर्पन्त्या सपदि भवतः स्रोतसि च्छाययाऽसौ
स्यादस्थानोपगतयमुनासङ्गमेवाभिरामा ॥ ५१ ॥

सञ्जी०—तस्या इति। सुरगज इव कश्चिद्दिग्गज इव व्योम्नि पश्चादर्धं पश्चार्धम्। पश्चिमार्धमित्यर्थः। पृषोदरादित्वात्साधुः। तेन लम्बत इति पश्चार्धलम्बी सन्पश्चार्धभागेन व्योम्नि स्थित्वा। पूर्वार्धेन जलोन्मुख इत्यर्थः। केचित्'पूर्वार्द्धलम्बी' इति पठन्ति। अच्छस्फटिकविशदं निर्मलस्फटिकावदातं तस्या गङ्गाया अम्भस्तिर्यक्तिरश्चीनं यथा तथा पातुं त्वं तर्कयेर्विचारयेश्चेत्। सपदि स्रोतसि प्रवाहे संसर्पन्त्या संक्रामन्त्या भवतश्छायया प्रतिबिम्बेनासौ गङ्गा अस्थाने प्रयागादन्यत्रोपगतः प्राप्तो यमुनासंगमो यया सा तथाभूतेवाभिरामा स्यात् ॥ ५१ ॥

चारि०—तस्या इति। हे मेघ सुरगज इव व्योम्नि तिर्यक् पश्चार्द्धलम्बमानः सन् त्वं तस्या गङ्गाया अच्छस्फटिकवद्विशदमम्भः पातुं तर्कयेर्विचारयेः। चेत्तर्हि भवतः स्रोतसि प्रवाहे सपदि शीघ्रं संसर्पन्त्या अवगाहमानया छायया प्रतिबिम्बेन करणभूतेन सा गङ्गाऽस्थाने प्रयागव्यतिरिक्ते स्थाने उपगतः प्राप्तो यमुनासङ्गमो यया सेवाभिरामा मनोज्ञा स्यात् ॥ ५१ ॥

भाव०—हे जलद! तदनन्तरं जाह्नव्याः सलिलं पातुं सुरगज इव त्वय्यवनते सति स्रोतसि विस्तीर्णया स्वच्छाययाऽभिव्याप्ताऽसौ जाह्नवी प्रयागादन्यत्रापि यमुनामिलितेव शोभां धारयिष्यति ॥ ५१ ॥

सौ०—हे मेघ! इसके अनन्तर यथा कोई दिशा का हाथी अपना अर्ध शरीर आकाशमें

तथा अर्ध शरीर नीचे की ओर लटकाकर जलपान करने में प्रवृत्त होता है। उसी प्रकारसे आप भी अपनी छायाको सफेद गङ्गाजीके जलमें डालकर स्फटिकके समान स्वच्छ गङ्गा-जलका पान करते हुये ऐसे दिखाई देंगे जैसे प्रयाग के अतिरिक्त अन्यत्र भी गङ्गा-यमुनाका सङ्गम हुआ है ॥ ५१ ॥

आसीनानां सुरभितशिलं नाभिगन्धैर्मृगाणां
तस्या एव प्रभवमचलं प्राप्य गौरं तुषारैः।
वक्ष्यस्यध्वश्रमविनयने तस्य शृङ्गे निषण्णः
शोभां शुभ्रत्रिनयनवृषोत्खातपङ्कोपमेयाम् ॥ ५२ ॥

सञ्जी०—आसीनानामिति। आसीनानामुपविष्टानां मृगाणां कस्तूरिकामृगाणाम्। अन्यथा नाभिगन्धानुपपत्तेः। नाभिगन्धैः कस्तूरीगन्धस्तेषां तदुद्भवत्वात्। अत एव मृगनाभिसंज्ञा च। 'मृगनाभिर्मृगमदः कस्तूरी च' इत्यमरः। अथवा नाभयः कस्तूर्यः। 'नाभिः प्रधाने कस्तूर्यां मदे च क्वचिदीरितः' इति विश्वः। तासां गन्धैः सुरभिताः सुरभीकृताः शिला यस्य तं तस्या गङ्गाया एव प्रभवत्यस्मादिति प्रभवः कारणम्। तुषारैर्गौरं सितम्। 'अवदातः सितो गौरः' इत्यमरः। अचलं प्राप्य। विनीयतेऽनेनेति विनयनम्। करणे ल्युट्। अध्वश्रमस्य विनयनेऽपनोदने तस्य हिमाद्रेः शृङ्गे निषण्णः सन्। शुभ्रो यस्त्रिनयनस्य त्र्यम्बकस्य वृषो वृषभः। 'सुकृते वृषभे वृषः' इत्यमरः। तेनोत्खातेन विदारितेन पङ्केन सहोपमेयामुपमातुमर्हां शोभां वक्ष्यसि वोढासि। वहतेर्लृट्। 'त्रिनयन–' इत्यत्र 'पूर्वपदात्संज्ञायामगः' इति णत्वं न भवति, 'क्षुभ्नादिषु च' इति निषेधात्। तस्याः प्रभवमित्यादिना हिमाद्रौ मेघस्य वैवाहिको गृहविकारो ध्वन्यते ॥ ५२ ॥

चारि०—भाग्यलाभमुपदिशति आसीनानामिति। भो जलद तुषारैर्हिमैर्गौरं तस्या गङ्गाया एव प्रभवमुत्पत्तिस्थानमचलं हिमाद्रिं प्राप्य तस्य हिमवतोऽध्वश्रम-विनयने मार्गक्लमापनोदिनि शृङ्गे शिखरे निषण्ण उपविष्टः सन् शुभ्रो दीप्तश्चासौ त्रिनयनस्य शम्भोर्वृषेण बलीवर्देनोत्खातश्चासौ पङ्कश्च तेनोपमेयामुपमातुमर्हां योग्यां शोभां वक्ष्यसि धारयसि। कीदृशमचलम्। आसीनानामुपविष्टानां मृगाणां कस्तूरि-काहरिणानां नाभिगन्धैर्नाभिविभागामोदैः सुरभिताः सुगन्धीकृताः शिला यस्य स तम्। सुरभिशब्दात्तारकादित्वादितच्। क्तप्रत्ययो न स्यात्। ईदृशस्य धातोरभा-वात्। यद्वा सुरभिशब्दात्प्रातिपादिकणिजन्तात् क्तप्रत्ययः। वक्ष्यसीति वह प्रापणे लृट्। 'शुभ्र मुद्दीप्तशुक्लयोरि' त्यमरः ॥ ५२ ॥

भाव०—हे जलद! तत्पश्चादध्वखेदापनोदार्थं समासीनकस्तूरीहरिणनाभि-गन्धसुरभितशिलातलं जाह्नव्या उत्पत्तिस्थानं हिमाचलमधिगम्य तस्य गौरशिखरे समुपविष्टस्त्वं विषाणोत्खातपङ्को महेशवृषभ इव शोभां धारयिष्यसि ॥ ५२ ॥

सौ०—हे मेघ ! अस्थान में गङ्गा-यमुनाके कल्पित सङ्गमकी शोभाके पश्चात् आप कैसे दीखेंगे। जिस हिमालयकी शिलाएँ, उनपर बैठे हुए कस्तूरी मृगोंकी नाभियोंसे उत्पन्न सुगन्धोंसे सुरभित हो रही हैं तथा जो हिमालय गङ्गाजीकी उत्पत्तिका कारण है। उस हिमालयके कूट (शिखर) पर मार्गश्रमको दूर करनेके लिये बैठे हुए महादेवजी के वृषभ (नन्दी) के सींगोंपर लगे हुए पंकके सदृश आपकी छवि दिखाई पड़ेगी ॥ ५२ ॥

तं चेद्वायौ सरति सरलस्कन्धसंघट्टजन्मा
बाधेतोल्काक्षपितचमरीबालभारो दवाग्निः।
अर्हस्येनं शमयितुमलं वारिधारासहस्रै-
रापन्नार्तिप्रशमनफलाः सम्पदो ह्युत्तमानाम् ॥ ५३ ॥

सञ्जी०—तमिति। वायौ वनवाते सरति वाति सति सरलानां देवदारुद्रुमाणां स्कन्धाः प्रदेशविशेषाः। 'अस्त्री प्रकाण्डः स्कन्धः स्यान्मूलाच्छाखावधेस्तरोः' इत्यमरः। तेषां संघट्टेन संघर्षणेन जन्म यस्य स तथोक्तः। जन्मोत्तरपदत्वाद् व्यधिकरणोऽपि बहुव्रीहिः—साधुरित्युक्तम्। उल्काभिः स्फुलिङ्गैः क्षपिता निर्दग्धाश्चमरीणां बालभाराः केशसमूहा येन, दव एवाग्निर्दवाग्निर्वनवह्निः। 'वने च वनवह्नौ च दवो दाव इतीष्यते' इति यादवः। तं हिमाद्रिं बाधेत चेत्पीडयेद्यदि। एनं दवाग्निं वारिधारासहस्रैः शमयितुमर्हसि। युक्तं चैतदित्याह—उत्तमानां महतां संपदः समृद्धय आपन्नानामार्तानामर्तिप्रशमनमापत्तिनिवारणमेव फलं प्रयोजनं यासां तास्तथोक्ता हि। अतो हिमाचलस्य दावानलस्त्वया शमयितव्य इति भावः ॥ ५३ ॥

चारि०—तमिति। वायौ सरति सति दवाग्निर्दावानलस्तं पर्वतं चेद्बाधेत दहेत्। कीदृशः। सरलस्य देवदारोः स्कन्धानां प्रकाण्डानां संघट्टात्संघर्षात् जन्म यस्य स तादृशः। तथोल्काभिर्वह्निकणसमूहैः क्षपितो दग्धश्चमरीणामरण्यमृगीणां बालानां पुच्छकेशानां भारः प्रचयो येन सः। तर्हि त्वं वारिधारासहस्रैरेनं दावानलमलमत्यर्थं शमयितुं निर्वापयितुमर्हसि। एतदेवार्थान्तरन्यासेन द्रढयति। हि यतः उत्तमानां सतां सम्पद् आपन्नानामापद्गतानामार्तिः पीडा तस्याः प्रशमनमेव फलं यासां ताः यद्यपि दुनोरनुपसर्गे इति ण प्रत्यये दाव इति भवितव्यम्। तथापि पचादिपाठादचि दव इत्यपि भवति। 'दवो दावो वनवह्निरि'त्यभिधानचिन्तामणिः ॥ ५३ ॥

भाव०—हे जलद तत्र वनपवनेन वृद्धिं गमितः सरलाख्यवृक्षस्कन्धसंघर्षजन्यो दावानलस्तं हिमालयं दहेचेद्, तर्हि त्वं जलधारासहस्रैस्तं निर्वापय। यत आर्तजनार्तिप्रशमनफलशालिन्यः सतां संपत्तयो भवन्ति ॥ ५३ ॥

सौ०—हे मेघ ! यदि उस हिमालयपर वनवायुके द्वारा देवदारु वृक्षोंका आपसमें संघर्ष होकर दावाग्नि उत्पन्न हो जाय और अपने स्फुलिंगोंसे (अग्निकणोंसे) वह अग्नि

चमरी मृगों के पुच्छोंके बालोंको जलाने लगे तो, आप अपनी सहस्त्रों जलधाराओं से उसे शान्त कर दें। क्योंकि–उत्तम-जनोंकी सम्पति क्लेशित-जनों की आपत्तिहरण करनेवाली होती है ॥ ५३ ॥

ये संरम्भोत्पतनरभसाः स्वाङ्गभङ्गाय तस्मिन्
मुक्ताध्वानं सपदि शरभा लङ्घयेयुर्भवन्तम्।
तान्कुर्वीथास्तुमुलकरकावृष्टिपातावकीर्णान्
के वा न स्युः परिभवपदं निष्फलारम्भयत्नाः ॥ ५४ ॥

सञ्जी०—य इति। तस्मिन् हिमाद्रौ संरम्भः कोपः। 'संरम्भः संभ्रमे कोपे' इति शब्दार्णवः। तेनोत्पतने उत्प्लवने रभसो वेगो येषां ते तथोक्ताः 'रभसो वेग-हर्षयोः' इत्यमरः। ये शरभा अष्टापदमृगविशेषाः। 'शरभः शलभे चाष्टापदे प्रोक्तो मृगान्तरे' इति विश्वः। मुक्तोऽध्वा शरभोत्प्लवनमार्गो येन तं भवन्तं सपदि स्वाङ्गभङ्गाय लङ्घयेयुः। संभावनायां लिङ्। भवतोऽतिदूरत्वात्स्वाङ्गभङ्गातिरिक्तं फलं नास्ति लङ्घनस्येत्यर्थः। तान्शरभांस्तुमुलाः संकुलाः करका वर्षोपलाः। 'वर्षोपलस्तु करका' इत्यमरः। तासां वृष्टिस्तस्याः पातेनावकीर्णान्विक्षिप्तान्कुर्वीथाः कुरुष्व। विध्यर्थे लिङ्। क्षुद्रोऽप्यधिक्षिपन्प्रतिपक्षः सद्यः प्रतिक्षेप्तव्य इति भावः। तथा हि आर-भ्यन्त इत्यारम्भाः कर्माणि तेषु यत्न उद्योगः स निष्फलो येषां तथोक्ताः। निष्फल-कर्मोद्यमा इत्यर्थः। अतः के वा परिभवपदं तिरस्कारपदं न स्युर्न भवन्ति। सर्व एव भवन्तीत्यर्थः। यदत्र 'घनोपलस्तु करकः' इति यादववचनात्करकशब्दस्य नियत-पुंल्लिङ्गाभिप्रायेण 'करकाणामावृष्टिः' इति केषांचिद्व्याख्यानं तदन्ते नानुमन्यन्ते। 'वर्षोपलस्तु करका' इत्यमरवचनव्याख्याने क्षीरस्वामिना 'कमण्डलौ च करकः सुगते च विनायकः' इति नानार्थे पुंस्यपि पठयतीति वदतोभयलिङ्गताप्रकाशनात्। यादवस्य तु पुंल्लिङ्गताविधाने तात्पर्यं न तु स्त्रीलिङ्गतानिषेध इति न तद्विरोधोऽपि। 'करकस्तु करङ्के स्यादाक्रोशे च कमण्डलौ। पक्षिभेदे करे चापि करका च घनोपले' इति विश्वप्रकाशवचने तूभयलिङ्गता व्यक्तैवेति न कुत्रापि विरोधवार्ता। अत एव रुद्रः—'वर्षोपलस्तु करका करकोऽपि च दृश्यते' इति ॥ ५४ ॥

चरि०—पीडानिषेधोपायमुपदिशन्नाह—य इति। भो मेघ तस्मिन् गिरौ ये शरभा अष्टापदाः स्वाङ्गभङ्गाय निजगात्रविनाशाय संरम्भेण क्रोधेनोत्पतनं रभसो-ऽवंगमावेगिनः सन्तः। मुक्ताध्वानं शरभाणामुत्पतनमार्गं हित्वा दूरगामिनं भवन्तं लङ्घयेयुः, त्यक्तमार्गत्वात् त्वयि शरभाणां लङ्घनं न सम्पद्यते। किन्तु तेषां देहभङ्ग एव भवतीति भावः। भो जलद तान् शरभान् तुमुलो रौद्रश्चासौ करकाणां वर्षो-पलानाम् आ समन्ताद् वृष्टिपातस्तेनावकीर्णान् अवक्षिप्तान् कुर्वीथाः। उक्तमेवार्था-न्तरन्यासेन प्रतिपादयति। निष्फलाः फलरहिता आरम्भा यत्नाः कर्मव्यापारा येषां

ते। के वा प्राणिनः परिभवस्य न्यक्कारस्य पदं स्थानं न स्युः। कुत्राऽपि वृष्टिहासाव-कीर्णानिति पाठः। तत्र वृष्टेरेव हासो हास्यं तेनावकीर्णान्। 'वर्षोपलस्तु करकः।' 'शरभः कुञ्जराणां तु व्यापादकोऽष्टपादपी'त्यभिधानचिन्तामणिः॥ ५४॥

भाव०—हे जलद! तत्र हिमालये शरभाणामुत्पतनमार्गं हित्वा दूरयायिनमपि भवन्तं लङ्घयितुं ये शरभा उद्युक्ताः स्युस्तान् करकावृष्ट्या खण्डितान् कुरु, यतो निष्फलकर्मोद्योगिनः सर्वेऽपि परिभवपदभाजो भवन्ति॥ ५४॥

सौ०—हे मेघ! उस हिमालयके ऊपर शरभ नामक अष्टापद मृगविशेष अपने मार्गको त्यागकर, आपके गर्जनको न सहकर, क्रोधके वशीभूत होकर शीघ्र-शीघ्र कूदकर अपने अङ्गोंका भंग करते हुए आपको लाँघनेका यत्न करेंगे। उस कालमें आप उन मृगोंपर खूब ओले बरसाकर उन्हें तितर-बितर कर दें। क्योंकि–निष्फलकर्ममें प्रवृत्त होनेवाले सभी परिभव (अपमान) को प्राप्त करते हैं॥ ५४॥

तत्र व्यक्तं दृषदि चरणन्यासमर्धेन्दुमौलेः
शश्वत्सिद्धैरुपचितबलिं भक्तिनम्रः परीयाः।
यस्मिन्दृष्टे करणविगमादूर्ध्वमुद्धूतपापाः
संकल्पन्ते स्थिरगणपदप्राप्तये श्रद्दधानाः॥ ५५॥

सञ्जी०—तत्रेति। हिमाद्रौ दृषदि कस्यांचिच्छिलायां व्यक्तं प्रकटं शश्वत्सदा सिद्धैर्योगिभिः। 'सिद्धिर्निष्पत्तियोगयोः' इति विश्वः। उपचितबलिं रचितपूजा-विधिम्। 'बलिः पूजोपहारयोः' इति यादवः। अर्धंग्रासाविन्दुरर्धेन्दुः। 'अर्धं खण्डे समेंऽशके' इति विश्वः। स मौलौ यस्य तस्येश्वरस्य चरणन्यासं पादविन्यासम्। भक्तिः पूज्येष्वनुरागस्तया नम्रः सन्परीयाः प्रदक्षिणं कुरु। परिपूर्वादिणो लिङ्। यस्मिन्पादन्यासे दृष्टे सत्युद्धूतपापा निरस्तकल्मषाः सन्तः श्रद्दधाना विश्वसन्तः पुरुषाः। श्रद्धा विश्वासः। आस्तिक्यबुद्धिरिति यावत्। 'श्रदन्तरोरुपसर्गवद् वृत्ति-र्वक्तव्या' इति श्रत्पूर्वाद्दधातेः शानच्। करणस्य क्षेत्रस्य विगमादूर्ध्वं देहत्यागान-न्तरम्। 'करणं साधकतमं क्षेत्रगात्रेन्द्रियेष्वपि' इत्यमरः। स्थिरं शाश्वतं गणानां प्रथमानां पदं स्थानम्। 'गणाः प्रथमसंख्यौघा' इति वैजयन्ती। तस्य प्राप्तये संकल्पन्ते समर्था भवन्ति। क्लृपेः पर्याप्तिवचनस्यालमर्थत्वात्तद्योगे 'नमः स्वस्ति-' इत्यादिना चतुर्थी। 'अलमिति पर्याप्त्यर्थग्रहणम्' इति भाष्यकारः। 'व्यक्तं व्यञ्जयामास शिवः श्रीचरणद्वयम्। हिमाद्रौ शाम्भवादीनां सिद्धये सर्वकर्मणाम्॥ दृष्ट्वा श्रीचरणं सम्यक् साधकः स्थिरयेत्तनुम्। इच्छाधीनशरीरो हि विचरेच्च जग-त्त्रयम्॥' इति शम्भुरहस्ये॥ ५५॥

चारि०—अन्यदपि मङ्गलमुपदिशति—तत्रेति। भो मेघ तत्र हिमवति दृषदि शिलायां व्यक्तं स्पष्टमर्द्धेन्दुमौलेर्महेशस्य चरणन्यासं भक्त्या नम्रः सन् परीयाः प्रद-

क्षिणीकुर्विति भावः। कीदृशं शश्वदनवरतं सिद्धसङ्घैरुपहृत उपनीतो बलिः पूजोपहारो यस्य तम्। भावनोत्पादनाय तं प्रकटयति। यस्मिन् चरणन्यासे दृष्टे सति उद्धूतपापा गतकल्मषाः श्रद्दधानाः श्रद्धावन्तः प्राणिनः करणस्य शरीरस्य विगमात् त्यागात् ऊर्ध्वं स्थिरं च तत् गणानां पदं स्थानं च तस्य प्राप्तये संकल्पन्ते साधुशक्ता भवन्ति। पाठान्तरे कल्पिष्यन्ते सम्पत्स्यन्ते अलं शब्दस्यार्थग्रहणात्पर्याप्तिवाचिनः कृपेर्योगे चतुर्थी। 'बलिः पूजोपहारे च दैत्यभेदे करेऽपि चे'ति यादवः। 'करणं साधकतमं क्षेत्रगात्रेन्द्रियेष्वपी'ति अमरः। अर्द्धश्चासाविन्दुश्चेति विशेषणसमासः। न तु इन्दोरर्द्धमर्द्धेन्दुरिति। अर्द्धं नपुंसकमिति नपुंसकादर्धशब्दस्यैव समासविधानात्। समभिप्रविभागवाचिन एव नपुंसकत्वात्। शम्भुशिरसि कलामात्रस्यैवावस्थानात् तत्र हितान्तरमुपदिशति ॥ ५५ ॥

भाव०—हे जलद! तत्र हिमालये शिलासु प्रकटं महेशस्य पादविन्यासं भक्त्यवनतः सन् प्रदक्षिणं कुरु यस्यावलोकनाच्छ्रद्धावन्तो जनाः शरीरत्यागानन्तरं स्थिरगणपदं प्राप्नुवन्ति ॥ ५५ ॥

सौ०—हे मेघ! उस हिमालयकी किसी एक शिलापर स्पष्टरूपसे भगवान् शिवके चरण चिह्नित हैं। जिन श्रीचरणोंका सिद्धजन निरन्तर पूजा करते हैं। अतः आप भी उन श्रीचरणोंकी भक्तिपूर्वक पूजा कीजियेगा। जिन श्रीचरणोंके दर्शनसे श्रद्धावान् व्यक्ति अकलुषित होकर प्रथम आदि शिवगणोंके पदोंको पाते हैं ॥ ५५ ॥

शब्दायन्ते मधुरमनिलैः कीचकाः पूर्यमाणाः
संसक्ताभिस्त्रिपुरविजयो गीयते किन्नरीभिः।
निर्ह्रादस्ते मुरज इव चेत्कन्दरेषु ध्वनिः स्यात्
सङ्गीतार्थो ननु पशुपतेस्तत्र भावी समग्रः ॥ ५६ ॥

सञ्जी०—शब्दायन्त इति। हे मेघ, अनिलैः पूर्यमाणाः कीचका वेणुविशेषाः 'वेणवः कीचकास्ते स्युर्ये स्वनन्त्यनिलोद्धताः' इत्यमरः। 'कीचको दैत्यभेदे स्याच्छुष्कवंशे द्रुमान्तरे' इति विश्वः। मधुरं श्रुतिसुखं यथा तथा शब्दायन्ते शब्दं कुर्वन्ति। स्वनन्तीत्यर्थः। 'शब्दवैरकलहाभ्रकण्वमेघेभ्यः करणे' इति क्यङ्। अनेन वंशवाद्यसम्पत्तिरुक्ता। संसक्ताभिः संयुक्ताभिर्वंशवाद्यानुषक्ताभिर्वा। 'संरक्ताभिः' इति पाठे संरक्तकण्ठीभिरित्यर्थः। किंनरीभिः किंनरस्त्रीभिः। त्रयाणां पुराणां समाहारस्त्रिपुरम्। 'तद्धितार्थोत्तरपद-' इति समासः। पात्रादित्वान्नपुंसकत्वम्। तस्य विजयो गीयते। कन्दरेषु दरीषु। 'दरी तु कन्दरो वा स्त्री' इत्यमरः। ते तव निर्ह्रादो मुरजे वाद्यभेदे ध्वनिरिव। मुरजध्वनिरिवेत्यर्थः। स्याच्चेत्तर्हि तत्र चरणसमीपे पशुपतेर्नित्यसंनिहितस्य शिवस्य संगानम् सम्यग्गानम्। 'तौर्यत्रिकं तु संगीतं न्यायारम्भे प्रसिद्धके। तूर्याणां त्रितये च' इति शब्दार्णवः। तदेवार्थः संगीतार्थः संगीतवस्तु।

'अर्थोऽभिधेयरैवस्तुप्रयोजननिवृत्तिषु' इत्यमरः। समग्रः संपूर्णो भावी ननु भविष्यति खलु। 'भविष्यति गम्यादयः' इति भविष्यदर्थे णिनिः॥ ५६॥

चारि०—शब्दायन्त इति। तत्र हिमवति अनिलैर्वातैः पूर्यमाणाः कीचकाः सच्छिद्रवंशा मधुरं यथा स्यात्तथा शब्दायन्ते शब्दं विदधते। संसक्ताभिर्भक्तियुक्ताभिः किन्नरीभिस्त्रिपुरविजयस्त्रिपुरदाहाख्यः प्रबन्धो गीयते। उभयत्र लट् प्रयोगः सदा सम्भवात्कृतः। हे मेघ! ध्वनिस्ते मुरज इव कन्दरेषु गुहासु निर्ह्रादो नादवायुर्भवेच्चेत्तर्हि पशुपतेर्महेशस्य सङ्गीतार्थः समग्रः सम्पूर्णो भावी भविष्यति। ननु निश्चितम्। 'निर्ह्रादो निनदो नादः।' गीतानृत्यवाद्यत्रयं नाट्यं तौर्यत्रिकं च तत्। सङ्गीतं प्रेक्षणीयार्थेऽस्मिन्नि'त्यभिधानचिन्तामणिः। चरणन्यासमन्तरेण शम्भुस्तत्र वसतीति प्रसिद्धिः॥ ५६॥

भाव०—हे जलद! तत्र वायुभिरापूर्यमाणाः सच्छिद्रवंशा मधुरं शब्दं कुर्वन्ति शंभुदर्शनार्थं संसक्ताभिः किंनरस्त्रीभिश्च त्रिपुरविजयो गीयते, कन्दरेषु प्रतिध्वनितस्ते निर्ह्रादो मुरजध्वनिरिव स्याच्चेत्, तर्हि तत्र संगीतं परिपूर्णाङ्गं स्यात्॥ ५६॥

सौ०—हे मेघ! उस हिमालयके ऊपर कीचक जातिके बाँस विशेष पवन-पूरित होकर मधुर ध्वनि किया करते हैं। जहाँ पर संयुक्त किन्नरियाँ मिलकर त्रिपुरासुरके विजयके गान किया करती हैं। यदि आप वहाँपर पर्वतीय गुहाओंमें अपनी गर्जना प्रतिध्वनित करेंगे तो, आपकी वह गर्जना मृदंगके सदृश उस समय भगवान् शङ्करके संगीतके अङ्गको पूरा करनेवाली होगी॥ ५६॥

प्रालेयाद्रेरुपतटमतिक्रम्य तांस्तान्विशेषान्
हंसद्वारं भृगुपतियशोवर्त्म यत्क्रौञ्चरन्ध्रम्।
तेनोदीचीं दिशमनुसरेस्तिर्यगायामशोभी
श्यामः पादो बलिनियमनाभ्युद्यतस्येव विष्णोः॥ ५७॥

सञ्जी०—प्रालेयाद्रेरिति। प्रालेयाद्रेर्हिमाद्रेरुपतटं तटसमीपे। 'अव्ययं विभक्ति-' इत्यादिना समीपार्थेऽव्ययीभावः। तांस्तान्। वीप्सायां द्विरुक्तिः। विशेषान्द्रष्टव्यार्थान्। 'विशेषोऽवयवे द्रव्ये द्रष्टव्योत्तमवस्तुनि' इति शब्दार्णवः। अतिक्रम्यानुसरेर्गच्छेरित्यनागतेन संबन्धः। हंसानां द्वारं हंसद्वारम्। मानसप्रस्थायिनो हंसाः क्रौञ्चरन्ध्रेण संचरन्ते इत्यागमः। भृगुपतेर्जामदग्न्यस्य यशोवर्त्म। यशःप्रवृत्तिकारणमित्यर्थः। यत्क्रौञ्चस्याद्रे रन्ध्रमस्ति तेन क्रौञ्चबिलेन बलेर्दैत्यस्य नियमने बन्धनेऽभ्युद्यतस्य प्रवृत्तस्य विष्णोर्व्यापकस्य त्रिविक्रमस्य श्यामः कृष्णवर्णः पाद इव तिर्यगायामेन छिद्रप्रवेशनार्थं तिरश्चीनदैर्घ्येण शोभत इति तथाविधः सन्नुदीचीमुत्तरां दिशमनुसरेरनुगच्छ। पुरा किल भगवतो देवाद् धूर्जटेर्धनुरुपनिषदमधीयानेन भृगुनन्दनेन स्कन्दस्य स्पर्धया क्रौञ्चशिखरिणमतिनिशितविशिखमुखेन हेलया

क्षुरिपण्डभेदं भित्त्वा ततः क्रौञ्चभेदादेव सद्यः समुज्जृम्भिते कस्मिन्नपि यशःक्षीरनिधौ निखिलमपि जगज्जालमाप्लावितमिति कथा श्रूयते ॥ ५७ ॥

चारि०—उदीचीं प्रति वेगेन गमनोपायं दर्शयन्नाह–प्रालेयाद्रेरिति–भो मेघ प्रालेयाद्रेर्हिमाचलस्योपतटं तटस्य पार्श्वे तांस्तान् विशेषान् पूर्वोक्तान् अतिक्रम्योल्लङ्घ्य हंसानां मानसाख्यसरोगमनद्वारं भृगुपतेः परशुरामस्य यशसो वर्त्म प्रसृतिमार्गभूतं क्रौञ्चपर्वतस्य रन्ध्रमस्ति तेन रन्ध्रेणोदीचीं दिशं त्वमनुसरेरुद्दिश्य गच्छेः। कीदृशस्त्वं तिर्यक् तिरश्चीनो य आयामो विस्तारस्तेन शोभते इति शोभी सन् बियन्मन्डलं व्रजन् बलिनाम्नो राक्षसस्य नियमनं नियन्त्रणं तत्राऽभ्युद्यतस्य लोघसस्य विष्णोस्त्रिविक्रमस्य श्यामः पाद इव स्थितः सन् क्रौञ्चवैरिणा कार्तिकेयेन स्पर्द्धमानः परशुरामः क्रौञ्चपर्वतं सच्छिद्रमकार्षीत्। तेन तस्य महती कीर्तिरासीदिति कथा ॥

भाव०—हे जलद ! हिमालयतटसमीपे द्रष्टव्यानर्थान् निरीक्ष्य परशुरामप्रतापद्योतकेन क्रौञ्चाचलरन्ध्रेणोदीचीं दिशां याहि तस्मिन् समये त्वं बलिनियन्त्रणार्थमुद्यतस्य वामनस्य श्यामचरण इव शोभां धारयिष्यसि ॥ ५७ ॥

सौ०—हे मेघ ! उस हिमालयके तटके समीप दर्शनीय स्थलोंका अवलोकन करके, हंस पक्षियोंके मानससरोवरमें गमन करनेके द्वारसे, जो द्वार श्री परशुरामके यशस्वरूप क्रौञ्चरन्ध्ररूपमें विराजमान है, उस द्वारसे प्रवेश करके आप तिरछे होकर उत्तर दिशाको जायँ। उस समय आपकी छवि भगवान् विष्णुके उस श्याम चरण की छविके समान होगी। जब उन्होंने उस द्वारसे प्रवेश करके राजा बलिको ठगनेके लिये अपने चरणोंकी छवि रची थी ॥ ५७ ॥

गत्वा चोर्ध्वं दशमुखभुजोच्छ्वासितप्रस्थसन्धेः
कैलासस्य त्रिदशवनितादर्पणस्यातिथिः स्याः।
शृङ्गोच्छ्रायैः कुमुदविशदैर्यो वितत्य स्थितः खं
राशीभूतः प्रतिदिनमिव त्र्यम्बकस्याट्टहासः ॥ ५८ ॥

सञ्जी०—गत्वेति। क्रौञ्चबिलनिर्गमनानन्तरमूर्ध्वं च गत्वा दशमुखस्य रावणस्य भुजैर्बाहुभिरुच्छ्वासिता विश्लेषिताः प्रस्थानां सानूनां संधयो यस्य यस्य। एतेन नयनकौतुकसद्भाव उक्तः। त्रिर्दशपरिमाणमेषामस्तीति त्रिदशाः। 'संख्याव्यय–' इत्यादिना बहुव्रीहिः। 'बहुव्रीहौ संख्येये डच्'–इत्यादिना समासान्तो डच्प्रत्ययः। त्रिदशानां देवानां वनितास्तासां दर्पणस्य। कैलासस्य स्फटिकमयत्वाद्रजतमयत्वाद्वा विस्पष्टग्राहित्वेनेदमुक्तम्। कैलासस्यातिथिःस्याः। कैलासः कुमुदविशदैर्निर्मलैः शृङ्गाणामुच्छ्रायैरौन्नत्यैः खमाकाशं वितत्य व्याप्य प्रतिदिनं दिने दिने राशीभूतत्र्यम्बकस्य त्रिलोचनस्याट्टहासोऽतिहास इव स्थितः। 'अट्टावतिशयक्षौमौ' इति यादवः। धावल्याद्धासत्वेनोत्प्रेक्षा। हासादीनां धावल्यं कविसमयप्रसिद्धम् ॥ ५८ ॥

चारि०—अतः परं मार्गमुपदिशति—गत्वेति। तेन रन्ध्रेणोर्ध्वं गत्वा कैलासस्यातिथिः स्याः भवेस्तं गच्छेरित्यर्थः। कीदृशस्य दशमुखस्य रावणस्य भुजैरुच्छ्वासितो विघटितः प्रस्थानां सानूनां सन्धिर्यस्य रूप्यमयत्वात्। तथा त्रिदशवनितानां दर्पणस्य। ननु त्रिदशवनितादर्पणस्येत्युक्तम्, मेघवायोः स्पर्शनान्मालिन्यप्रसङ्गात्कथं सम्भवेदित्याशङ्क्याह। कैलासस्य महत्तया मालिन्यं न भवतीति महत्तां दर्शयति। यः कैलासः कुमुदवद्विशदैर्निर्मलैः श्रृङ्गोच्छ्रायैः खमाकाशं वितत्य विस्तीर्य प्रतिदिशं दिशि दिशि राशीभूतस्त्र्यम्बकस्य शम्भोरट्टहास उद्भटहास इव स्थितः। चकारो गत्यानन्तर्यसमुच्चयार्थः। दशमुखेत्यादिविशेषणमयुक्तमिति न वाच्यम्। अभिगम्यस्य शैलस्याभिभववाचित्वादिति वाच्यम्। अन्यानुद्धृत्येतस्ततः प्रक्षेप्तुं शक्नोति यः तेनाप्येतस्य सारवत्तया प्रस्थोच्छ्वासमात्रमेव कृतमिति उत्कर्षस्य विवक्षितत्वात्॥ ५८॥

भाव०—हे जलद! तदनन्तरं त्वं रावणभुजविघटितशिखरसन्धेः सुरवधूदर्पणरूपिणः कैलासाचलस्यातिथिर्भव। यः प्रत्यहं राशीभूतः शिवस्याट्टहास इव स्थितो वर्त्तते॥ ५८॥

सौ०—हे मेघ! इसके पश्चात् क्रौञ्चरन्ध्रसे निकलकर आप रावणकी भुजाओंसे विश्लेषित (हिलाये हुए) किए हुए प्रान्तपर्वतवाले तथा सुरांगनाओं के दर्पणस्वरूप कैलास पर्वतके अतिथि बनें। जो कैलाश पर्वत कुमुद के पुष्पोंके सदृश स्वच्छ अपने शिखरोंसे आकाश-मंडलमें परिव्याप्त होकर ऐसा मालूम होता है मानो, भगवान् शिव के नित्यके एकत्रीभूत अट्टाहास ही स्थित हो॥ ५८॥

उत्पश्यामि त्वयि तटगते स्निग्धभिन्नाञ्जनाभे
सद्यः कृत्तद्विरददशनच्छेदगौरस्य तस्य।
शोभामद्रेः स्तिमितनयनप्रेक्षणीयां भवित्री-
मंसन्यस्ते सति हलभृतो मेचके वाससीव॥ ५९॥

सञ्जी०—उत्पश्यामीति। स्निग्धं ससृणं भिन्नं मर्दितं च यदञ्जनं कज्जलं तस्यामेवाभा यस्य तस्मिंस्त्वयि तटगते सानुगते सति सद्यः कृत्तस्य छिन्नस्य द्विरददशनस्य गजदन्तस्य छेदवद् गौरस्य धवलस्य तस्याद्रेः कैलासस्य मेचके श्यामले 'कृष्णे नीलासितश्यामकालश्यामलमेचकाः' इत्यमरः। वाससि वस्त्रेऽसन्यस्ते सति हलभृतो बलभद्रस्येव स्तिमिताभ्यां नयनाभ्यां प्रेक्षणीयां शोभां भवित्रीं भाविनीमुत्पश्यामि। शोभा भविष्यतीति तर्कयामीत्यर्थः। श्रौती पूर्णोपमालंकारः॥ ५९॥

चारि०—उत्पश्यामीति। भो मेघ त्वयि तटगते तटं प्राप्ते सति तस्याद्रेः कैलासस्यातिरमणीयत्वात् स्तिमितैर्निश्चलैर्नयनैः प्रेक्षितुं योग्यां भवित्री भविष्यन्तीं शोभामुत्पश्यामि। उत्प्रेक्षते। कस्मिन् सति कस्येव। मेचके नीले वाससि अंसन्य-

स्ते सति हलं सीरं बिभर्तीति हलभृतो बलभद्रस्येव कीदृशे त्वयि। स्निग्धं च तत् भिन्नं विदारितं यदञ्जनं तद्वद्भाति। कीदृशस्य कैलासस्य सद्यः कृत्तश्छिन्नश्चासौ द्विरदस्य दन्तस्य छेदस्तद्वद् गौरस्य। 'कृष्णे नीलासितश्यामकालश्यामलमेचकाः' इत्यमरः॥ ५९॥

भाव०—हे जलद! धवलवर्णस्य कैलासस्य तटे मसृणाञ्जनवर्णे त्वयि स्थिते सति त्वदध्यासितशिखरः स कैलासः स्कन्धनिहितश्यामलवस्त्रो गौरवर्णो हलधर इव शोभितो भविष्यति॥ ५९॥

सौ०—हे मेघ! जब आप कैलासपर पहुँचेंगे तब आपकी कान्ति कैसी होगी—आप चिकने तथा कज्जलके समान काले हैं और कैलास पर्वत शीघ्र विदारित हाथीदांतके सदृश सफेद है। अतः आप जब वहांपर जायेंगे तब वह कैलास ऐसा दीखेगा जैसे बलरामजी अपने कन्धेपर नीलवस्त्र ओढ़े हुए हों ५९॥

हित्वा तस्मिन्भुजगवलयं शम्भुना दत्तहस्ता
क्रीडाशैले यदि च विचरेत्पादचारेण गौरी।
भङ्गीभक्त्या विरचितवपुः स्तम्भितान्तर्जलौघः
सोपानत्वं कुरु मणितटारोहणायाग्रयायी॥ ६०॥

सञ्जी०—हित्वेति। तस्मिन् क्रीडाशैले कैलासे। 'कैलासः कनकाद्रिश्च मन्दरो गन्धमादनः क्रीडार्थं निर्मिताः शम्भोर्देवैः क्रीडाद्रयोऽभवन्' इति शम्भुरहस्ये। शम्भुना शिवेन भुजग एव वलयः कङ्कणं तं हित्वा गौर्या भीरुत्वात्त्यक्त्वा दत्तहस्ता सती गौरी पादचारेण विचरेद्यदि तर्ह्यग्रयायी पुरोगतस्तथा स्तम्भितो घनीभावं प्रापितोऽन्तर्जलस्यौजः प्रवाहो येन स तथाभूतः। भङ्गीनां पर्वणां भक्त्या रचनया विरचितवपुः कल्पितशरीरः सन् मणीनां तटं मणितटं तस्यारोहणाय सोपानत्वं कुरु। सोपानभावं भजेत्यर्थः॥ ६०॥

चारि०—तत्र हितमुपदिशति—हित्वेति। हे पयोद! तस्मिन् क्रीडाशैले कैलासे भुजगवलयं सर्पभूषणं हित्वा त्यक्त्वा शम्भुना दत्तहस्ता सती गौरी यदि पादचारेण विहरेत्। तदा भङ्गा विभङ्गाः शकलानि अस्य स भङ्गी भक्त्या विरचितं निर्मित्य रचितं वपुर्यस्य स तथा। स्तम्भितोऽन्तर्गतस्य जलस्यौघः प्रवाहो येन तादृशः सन् आरोहणाय सोपानत्वं निश्रेणित्वं कुरु॥ ६०॥

भाव०—हे जलद! तत्र कैलासे चङ्क्रमणार्थमुद्युक्तायाः सर्पवलयविहीनं शंभुकरमालम्ब्य विचरणं विदधत्या भगवत्याः पार्वत्या मणितटारोहणाय सोपानरूपेण परिणतो भव॥ ६०॥

सौ०—हे मेघ! उस कैलासपर स्थित क्रीड़ाशैलपर सर्परूपी कंकणोंको त्यागे हुए शिवके हस्त (हाथ) को पकड़कर घूमती हुई यदि पार्वतीजी ऊपर-नीचे चढ़े-उतरें। तब

आप अपने जलप्रवाहको अपने अभ्यन्तरमें ही रोककर और अग्रयायी होकर सीढ़ीके रूपमें अपने शरीरकी रचना करके उस मणितटपर उन्हें चढ़नेमें सहारा दें ॥ ६० ॥

तत्रावश्यं वलयकुलिशोद्घट्टनोद्गीर्णतोयं
नेष्यन्ति त्वां सुरयुवतयो यन्त्रधारागृहत्वम् ।
ताभ्यो मोक्षस्तव यदि सखे घर्मलब्धस्य न स्यात्
क्रीडालोलाः श्रवणपरुषैर्गर्जितैर्भाययेस्ताः ॥ ६१ ॥

सञ्जी०—तत्रेति । तत्र कैलासेऽवश्यं सर्वथा सुरयुवतयो वलयकुलिशानि कङ्कणकोटयः । शतकोटिवाचिना कुलिशशब्देन कोटिमात्रं लक्ष्यते । तैरुद्घट्टनानि प्रहारास्तैरुद्गीर्णमुत्सृष्टं तोयं येन तं त्वां यन्त्रेषु धारा यन्त्रधारास्तासां गृहत्वं कृत्रिमधारागृहत्वं नेष्यन्ति प्रापयिष्यन्ति । हे सखे मित्र, घर्मे निदाघे लब्धस्य। घर्मलब्धत्वं चास्य देवभूमिषु सर्वदा सर्वर्तुसमाहारात्प्राथमिकमेघत्वाद्वा । यथोक्तम्-'आषाढस्य प्रथम-' इति । तव ताभ्यः सुरयुवतिभ्यो मोक्षो न स्याद्यदि तदा क्रीडालोलाः क्रीडासक्ताः प्रमत्ता इत्यर्थः । ताः सुरयुवतीः श्रवणपरुषैः श्रवणकटुभिर्गर्जितैः करणै र्भाययेस्त्रासयेः । अत्र हेतुभयाभावादात्मनेपदं पुगागमश्च न ॥ ६१ ॥

चारि०—हितान्तरमुपदिशति—तत्रेति । भो वारिद तत्र पर्वते सुरयुवतयो देवाङ्गनास्त्वां भवन्तं यन्त्राणि शालभञ्जिकाप्रभृतीनि तत्र तत्करतलप्रवृत्तनीरधाराप्रचुरं गृहं यन्त्रधारागृहं तस्य भावस्तत्त्वमवश्यं निश्चितं नेष्यन्ति । कीदृशं वलयमेव कुलिशं तेन यत् घट्टनं तेनोद्गीर्णं वान्तं तोयं येन स तम् । भोः सखे घर्मलब्धस्य तव ताभ्यो युवतिभ्यो मोक्षो यदि न स्यात् । तर्हि क्रीडासु लोलाः सतृष्णास्ता युवतीः श्रवणपरुषैः कर्णकर्कशैर्गर्जितैर्भाययेर्भीषयेः । गर्जितभीतास्त्वां त्यजयन्तीति भावः । ननु घर्मलब्धस्येत्यसङ्गतं वर्षर्तुसमयत्वादिति न वक्तव्यम् । कैलासस्य सुरभूमित्वेन षण्णामपि ऋतूनां सम्भवात् । यद्वा घर्मशब्देन श्रमो विवक्षितः। क्लमलब्धस्येत्यर्थः । हेतुरूपान्मेघात् स्त्रीणां न भयं किं तु गर्जितात् ॥ ६१ ॥

भाव—हे जलद ! तत्र कौतुकवशात् सुरयुवतयः कङ्कणकोटयुद्घट्टनैस्त्वां यन्त्रधारागृहभावं नेष्यन्ति । हे सखे ! ताभ्यस्ते यदि कथञ्चन मुक्तिर्न स्यात्तर्हि श्रवणकटुभिर्गर्जितैस्ता भाययेः ॥ ६१ ॥

सौ०—हे मेघ ! उस कैलासके क्रीडाशैलपर कौतुकिनी सुरांगनाएं अपने कङ्कणोंकी कोटियों (नोकों) से आपमें रन्ध्र (सुराख) करेंगी । तब आपमें फुहारेकी तरह धारायें निकलेंगी । हे सखे ! यदि गर्मीके कारण प्रिय होनेसे आपका उनसे शीघ्र मोक्ष (छुटकारा) न हो तो, आप उन्हें खूब तेज गरजकर भयभीत करें ॥ ६१ ॥

हेमाम्भोजप्रसवि सलिलं मानसस्याददानः
कुर्वन्कामं क्षणमुखपटप्रीतिमैरावतस्य ।

धुन्वन्कल्पद्रुमकिसलयान्यंशुकानीव वातै-
र्नानाचेष्टैर्जलद ! ललितैर्निर्विशेस्तं नगेन्द्रम् ॥ ६२ ॥

सञ्जी०—हेमेति । हे जलद ! हेमाम्भोजानां प्रसवि जनकम् । 'जिद्दक्षि–' इत्यादिनेनिप्रत्ययः । मानसस्य सरसः सलिलमाददानः । पिबन्नित्यर्थः । तत्स्थैरावतस्येन्द्रगजस्य । कामचारित्वाद्वा शिवसेवार्थमिन्द्रागमनाद्वा समागतस्येति भावः । क्षणे जलादानकाले मुखे पटेन या प्रीतिस्तां कुर्वन् । तथा कल्पद्रुमाणां किसलयानि पल्लवभूतान्यंशुकानि सूक्ष्मवस्त्राणीव । 'अंशुकं वस्त्रमात्रे स्यात्परिधानोत्तरीययोः । सूक्ष्मवस्त्रे नातिदीप्तौ' इति शब्दार्णवः । वातैर्मेघवातैर्धुन्वन् । नाना बहुविधाश्चेष्टास्तोयपानादयो येषु तैर्ललितैः क्रीडितैः । 'ना भावभेदे स्त्रीनृत्ये ललितं त्रिषु सुन्दरे । अस्त्रियां प्रमदागारे क्रीडिते जातपल्लवे' इति शब्दार्णवः । तं नगेन्द्रं कैलासं कामं यथेष्टं निर्विशेः समुपभुङ्क्ष्व । 'निर्वेशो भृतिभोगयोः' इत्यमरः । यथेच्छविहारो मित्रगृहेषु मैत्र्याः फलम् । सहजमित्रं च ते कैलासः । मेघपर्वतयोरब्जसूर्ययोरब्धिचन्द्रयोः शिखिजीमूतयोः समीराग्न्योर्मित्रता स्वयमिति भावः ॥ ६२ ॥

चारि०—गुणादिना प्रलोभयति—हेमाम्भोजेति । भो मेघ ! तं नगेन्द्रं कैलासं निर्विशेः अनुभवेः । कीदृशः हेम्नो जातानामम्भोजानां प्रसवो जननमस्य मानससरोविशेषस्य सलिलमाददानः । कामं यथेच्छमैरावतस्य गजस्य क्षणं मुहूर्तं मुखपटप्रीतिं मुखावगुण्ठनवस्त्रालाभप्रीतिं कुर्वन् जनयन् सजलपृक्तैः जलकणिकासहितैर्वातैः कल्पवृक्षकिसलयभूतानि अंशुकानि वस्त्राणि धुन्वन् कम्पयन् । पुनः कीदृशस्त्वम् । छायया प्रतिबिम्बेन भिन्नः सङ्गतः सन् कीदृशं नगेन्द्रं स्फटिकविशदं निर्मलम् । यथा कोऽपि सखा मित्रालयं गत्वा तत्सम्बन्धीनि दीर्घिकावाहनारामप्रभृतीनि यथाकामं निर्विशति तद्वदिति ध्वनिः । 'प्रसवो जनतानुज्ञापत्रेषु फलपुष्पयोरि'ति यादवः ॥ ६२ ॥

भाव०—हे जलद ! कनककमलोत्पत्तिकारणं मानससरो सलिलं पिबन्, ऐरावतस्य मुहूर्त्तं मुखावगुण्ठनवस्त्रप्रीतिं कुर्वन् मेघवातैः कल्पद्रुमकिसलयानि कम्पयन् कैलासं यथेच्छमुपभुञ्जीयाः ॥ ६२ ॥

सौ०—हे मेघ ! सुवर्ण कमलोंको उत्पन्न करनेवाले मानसरोवरके जलको पान करके तथा ऐरावत नामक इन्द्रगजके मुखपटकी प्रीतिको करके एवं मन्दपवनके सदृश कल्पवृक्षके कोमल पत्तोंको हिला करके अनेकों तरहकी लीलाएं करते हुए उस शैलपर विहार कीजियेगा ॥ ६२ ॥

तस्योत्सङ्गे प्रणयिन इव स्रस्तगङ्गादुकूलां
न त्वं दृष्ट्वा न पुनरलकां ज्ञास्यसे कामचारिन् ।

या वः काले वहति सलिलोद्गारमुच्चैर्विमाना
मुक्ताजालग्रथितमलकं कामिनीवाभ्रवृन्दम् ॥ ६३ ॥

इति पूर्वमेघः ।

सञ्जी०—तस्येति । प्रणयिनः प्रियतमस्येव तस्य कैलासस्योत्सङ्गे ऊर्ध्वभागे कटौ च । 'उत्सङ्गो मुक्तसंयोगे सक्थन्यूर्ध्वतलेऽपि च' इति मालतीमालायाम् । 'गङ्गा-दुकूलं शुभ्रवस्त्रमिव । इत्युपमितसमासः । 'दुकूलं सूक्ष्मवस्त्रे स्यादुत्तरीये सितांशुके' इति शब्दार्णवः । अन्यत्र तु गङ्गेव दुकूलम् । तत्स्रस्तं यस्यास्तां तथोक्तामलकां कुबेर-नगरीं दृष्ट्वा । कामिनीमिवेति शेषः । हे कामचारिन्, त्वं पुनस्त्वं तु न ज्ञास्यस इति न किं तु ज्ञास्यस एवेत्यर्थः । कामचारिणस्ते पूर्वमपि बहुकृत्वो दर्शनसंभवाद-ज्ञानमसम्भावितमेवेति निश्चयार्थं नञ्द्वयप्रयोगः । तदुक्तम्—'स्मृतिनिश्चयसिद्धार्थेषु नञ्द्वयप्रयोगः' इति । उच्चैरुन्नतानि विमानानि सप्तभूमिकभवनानि । 'विमानोऽ-स्त्री देवयाने सप्तभूमौ च सद्मनि' इति यादवः । यस्यां सा । मेघसंवाहनस्थानसूच-नार्थमिदं विशेषणम् अन्यत्र विमाना निष्कोपा याऽलका । वो युष्माकं काले । मेघकाल इत्यर्थः । कालस्य सर्वमेघसाधारण्याद्वा इति बहुवचनम् । सलिलमुद्गिर-तीति सलिलोद्गारम् । स्रवत्सलिलधारमित्यर्थः । अभ्रवृन्दं मेघकदम्बकं कामिनी स्त्री मुक्ताजालैर्मौक्तिकसरैर्ग्रथितं प्रत्युप्तम् । 'पुंश्चल्यां मौक्तिके मुक्ता' इति यादवः । अलकमिव चूर्णकुन्तलानीव । जातावेकवचनम् । 'अलकाश्चूर्णकुन्तलाः' इत्यमरः । वहति बिभर्ति । अत्र कैलासस्यानुकूलनायकत्वमलकायाश्च स्वाधीनपतिकाख्यना-यिकात्वं ध्वन्यते । 'एकायत्तोऽनुकूलः स्यात्' इति, प्रियोपलालिता नित्यं स्वाधीन-पतिका मता' इति च लक्षयन्ति । उदाहरन्ति च-लालयन्नलकप्रान्तान्रचयन्पत्र-मञ्जरीम् । एकां विनोदयन् कान्तां छायावदनुवर्तते ॥' इति ॥ ६३ ॥

इति महामहोपाध्यायमल्लिनाथसूरिविरचितया संजीवनीसमाख्यया
व्याख्यया सनाथे महाकविश्रीकालिदासविरचिते मेघदूते
काव्ये पूर्वमेघः समाप्तः ।

चारि०—गुणोत्कीर्तनेनालकां बोधयितुमाह—तस्येति । भोः कामचारिन् जलद प्रणयिनो भर्तुरिव तस्य कैलासस्योत्सङ्गे उपरि शृङ्गे त्वं पुनरलकां दृष्ट्वा न ज्ञास्यस इति न अपि तु ज्ञास्यसे । द्वौ नञौ प्रकृतमर्थं गमयतः । कीदृशीं स्रस्तं भ्रष्टं गङ्गैव दुकूलं विस्रवद्वस्त्रं यस्यास्ताम् । दर्शनमेव विशदयति । याऽलका वो युष्माकं मेघानां

काले समये वर्षर्त्तावित्यर्थः। उच्चैरुन्नतैर्विमानैः सप्तभूमिकप्रासादैः सलिलमुद्गिरति सलिलोद्गारः कर्मण्यण्। तम् अभ्राणां वृन्दं मेघानां समूहं वहति। मुक्ताजालेन मौक्तिकगणेन ग्रथितं नद्धमलकं मालावलम्बिकेशविन्यासविशेषं कामिनीव। 'विमानोऽस्त्री देवयाने सप्तभौमे च सद्मनि। जालं गवाक्ष आनाये क्षारके कदने गणः' इति यादवः। 'दुकूलं शुक्लवस्त्रेऽपी'ति केशवः॥ ६३॥

इदानीं यावत्पूर्वमेघसन्देशः सम्पूर्णः

भाव०—हे जलद! तस्य कैलासस्योपरि शृङ्गे वर्त्तमानां प्रियस्योत्सङ्गे निषण्णां रमणीमिव स्रस्तगङ्गोत्तरीयामलकां पुरीं नूनं ज्ञास्यसे॥ ६३॥

इति पूर्वमेघे भावबोधिनी समाप्ता।



सौ०—हे मेघ! प्रियतमोंकी गोदमें प्रेयसियोंकी तरह स्थित अलकापुरी जो कैलासरूपी प्रियकी गोदमें बैठी हुई है तथा जिसका गङ्गारूपी वस्त्र खिसक गया है—गङ्गाका प्रादुर्भाव कैलाससे है। हे कामचारिन्! उस अलकापुरीको देखकर आप न पहिचानेंगे सो बात नहीं है आप पहचान ही लेंगे। जो अलका ऊँचे भवनोंवाली है तथा आपके समयमें (वर्षाऋतुमें) कामिनो सुन्दरियों के मुक्ताग्रथित वेणियोंके समान जलविन्दु बरसनेवाले मेघोंको धारण करती हैं॥ ६३॥

इस प्रकार पूर्वमेघ की सौदामिनी नामक हिन्दी टीका समाप्त हुई।

समाप्तश्चायं पूर्वमेघः

———

—धर्मेन्द्र कुमार त्रिपाठी

अथ उत्तरमेघः

इत्थमलकां वर्णयित्वा तत्र स्वभवनस्याभिज्ञानमाह—

विद्युत्वन्तं ललितवनिताः सेन्द्रचापं सचित्राः
संगीताय प्रहतमुरजाः स्निग्धगम्भीरघोषम् ।
अन्तस्तोयं मणिमयभुवस्तुङ्गमभ्रंलिहाग्राः
प्रासादास्त्वां तुलयितुमलं यत्र तैस्तैर्विशेषैः ॥ १ ॥

सञ्जी०—विद्युत्वन्तमिति । यत्रालकायां ललिता रम्या वनिताः स्त्रियो येषु । सह चित्रैर्वर्तन्त इति सचित्राः । 'आलेख्याश्चर्ययोश्चित्रम्' इत्यमरः । 'तेन सहेति तुल्ययोगे' इति बहुव्रीहिः । 'वोपसर्जनस्य' इति सहशब्दस्य समासः । संगीताय तौर्यत्रिकाय प्रहतमुरजास्ताडितमृदङ्गाः । 'मुरजा तु मृदङ्गे स्यात् ढक्कामुरजयोरपि' इति शब्दार्णवः । मणिमय्यो मणिविकारा भुवो येषु ते । अभ्रं लिहन्तीत्यभ्रंलिहान्यभ्रंकषाणि । 'वहाभ्रे लिहः' इति खश्प्रत्ययः । 'अरुर्द्विष-' इत्यादिना मुमागमः । अग्राणि शिखराणि येषां ते तथोक्ताः । अतितुङ्गा इत्यर्थः । प्रासादा देवगृहाणि । 'प्रासादो देवभूभुजाम्' इत्यमरः । विद्युतः अस्य सन्तीति विद्युत्वन्तम् । सेन्द्रचापमिन्द्रचापवन्तम् । स्निग्धः श्लाघ्यो गम्भीरो घोषो गर्जितं यस्य तम् । अन्तरन्तर्गतं तोयं यस्य तम् । तुङ्गमुन्नतं त्वां तैस्तैर्विशेषैर्ललितवनितत्वादिधर्मैस्तुलयितुं समीकर्तुमलं पर्याप्ताः । 'अलं भूषणपर्याप्तिशक्तिवारणवाचकम्' इत्यमरः । अथोपमानोपमेयभूतमेघप्रासादधर्माणां विद्युद्वनितादीनां यथासंख्यमन्योन्यसादृश्यान्मेघप्रासादसादृश्यस्य सिद्धिरिति बिम्बप्रतिबिम्बभावेनेयं पूर्णोपमा । वस्तुतो भिन्नयोः परस्परसादृश्यादभिन्नयोरुपमानोपमेयधर्मयोः पृथगुपादानाद्बिम्बप्रतिबिम्बभावः ॥ १ ॥

चारि०—साम्प्रतमलकादर्शनकौतुकमुत्पादयन्नलकाज्ञानार्थमेनामेव वर्णयति—. विद्युत्वन्तमिति । यत्रालकायां प्रासादा हर्म्याणि तैस्तैर्विशेषैस्त्वां भवन्तं तुलयितुं सदृशीकर्तुमलं पर्याप्ताः विशेषणद्वारेण तानेव विशेषानाह । कीदृशं त्वां विद्युद्विद्यते यस्य तम् । ललिता मनोहरा वनिता येषु ते इति साम्यम् । इन्द्रचापेन सह वर्तत इति सेन्द्रचापम् । चित्रेणालेख्येन सह वर्तन्त इति साम्यम् । स्निग्धो मधुरो गम्भीरो धीरो घोषो गर्जितं यस्य स तम् । तथा सङ्गीतस्य नृत्यगीतवाद्यादित्रयस्यार्थां हेतवः प्रहताश्च मुरजा येषु ते इति साम्यम् । अन्तर्गतं तोयं जलं वा यस्य स तम् । मणिमय्यो भुवो येषां त इति साम्यम् । तुङ्गमुन्नतम् । अभ्रमाकाशं लिहन्ति स्पृशन्ति अग्राणि येषां त इति साम्यम् । 'अभ्रं सुराभ्रो दमहरित्ययोऽम्बर-

मि'त्यभिधानचिन्तामणिः अभ्रंलिह इति 'वहाभ्रे छिल'इति खश्। तुलया साहश्येन गृह्णातीत्यर्थे तुलाप्रातिपदिकाण्णिजन्तात्तुलयितुमिति रूपम्। तुल उन्मानेऽस्माच्चुरादिकात्तोलयितुमिति स्यात्। 'आलेख्याश्चर्ययोश्चित्रम्।' 'अलं भूषणपर्याप्तिशक्तिवारणवाचकमि'त्यमरः ॥ १ ॥

भाव०—हेलद ! अलकां पुरीं संप्राप्ते त्वयि तत्रत्यानि हर्म्याणि ललितवनिताचित्रतौर्यत्रिकनिमित्तकताडितमृदङ्गमणिमयभूतलाभ्रंकषशिखरप्रमुखधर्मैः समानधर्माणि वर्तमानानि क्रमेण विद्युदिन्द्रचापश्राव्यगम्भीरघोषान्तर्जलतुङ्गत्वधर्मसहितं त्वां तुलयितुं समर्थानि भविष्यन्ति ॥ १ ॥

सौ०—हे मेघ ! जिस अलकापुरी की सुन्दर महिलायें चित्रों से विचित्र शोभा, सङ्गीत के लिये बजनेवाले मृदङ्ग, रत्नजटित भूमि एवं आकाशको स्पर्श करनेवाले प्रासाद (देवालय) आपकी समता करनेमें पूर्ण समर्थ हैं। आप भी कैसे हैं—विद्युत्वान् हैं, इन्द्रधनुषधारी हैं, स्निग्ध एवं गम्भीर गर्जन वाले हैं अन्तरमें जल वहन करनेवाले हैं और अत्यन्त उन्नत हैं। ऐसे आपको वे लोग उपर्युक्त गुणोंसे जीत सकनेमें समर्थ हैं ॥ १ ॥

संप्रति सर्वदा सर्वर्तुसंपत्तिमाह—

हस्ते लीलाकमलमलके बालकुन्दानुविद्धं
नीता लोध्रप्रसरजसा पाण्डुतामानने श्रीः।
चूडापाशे नवकुरबकं चारु कर्णे शिरीषं
सीमन्ते च त्वदुपगमजं यत्र नीपं वधूनाम् ॥ २ ॥

सञ्जी०—हस्त इति। यत्रालकायां वधूनां स्त्रीणां हस्ते लीलार्थं कमलं लीलाकमलम्। शरल्लिङ्गमेतत्। तदुक्तम्—'शरत् पङ्कजलक्षणा' इति। अलके कुन्तले। जातावेकवचनम्। अलकेष्वित्यर्थः। बालकुन्दैः प्रत्यग्रमाघ्यकुसुमैरनुविद्धम्। अनुवेधो ग्रन्थनम्। नपुंसके भावे क्तः। यद्यपि कुन्दानां शैशिरत्वमस्ति 'माघ्यं कुन्दम्' इत्यभिधानात्तथापि हेमन्ते प्रादुर्भावः शिशिरे प्रौढत्वमिति व्यवस्थाभेदेन हेमन्तकार्यत्वमित्याशयेन बालेति विशेषणम्। 'अलकम्' इति प्रथमान्तपाठे सप्तमीप्रक्रमभङ्गः स्यात्। नाथस्तु नियतपुँल्लिङ्गताहानिश्चेति दोषान्तरमाह। तदसत्। 'स्वभाववक्राण्यलकानि तासाम्'। विधूतान्यलकानि पाटितमुरः क्रुरस्नोऽधरः खण्डितः' इत्यादिषु प्रयोगेषु नपुंसकलिङ्गतादर्शनादिति। आनने मुखे लोध्रप्रसवानां लोध्रपुष्पाणां शैशिराणां रजसा परागेन। 'स्यादुत्पादे फले पुष्पे प्रसवो गर्भमोचने' इत्यमरः। पाण्डुतां नीता श्रीः शोभा। चूडापाशे केशपाशे नवकुरबकं वासन्तः पुष्पविशेषः। कर्णे चारु पेशलं शिरीषं ग्रैष्मः पुष्पविशेषः। सीमन्ते मस्तककेशवीथ्याम्। 'सीमन्तमस्त्रियां मस्तकेशवीथ्यामुदाहृतम्' इति शब्दार्णवः। तवोपगमो मेघागम इत्यर्थः, तत्र जातं त्वदुपगमजम्। वार्षिकमित्यर्थः। नीपं कदम्बकुसुमम्। सर्वत्रास्तीति शेषः। 'अस्तिर्भवन्तिपरः प्रथमपुरुषोऽप्रयुज्यमानोऽप्यस्ती'ति न्यायात्।

इत्थं कमलकुन्दादितत्तत्कार्यसमाहाराभिधानादर्थात्सर्वर्तुसमाहारसिद्धिः। कारणं विना कार्यस्यासिद्धेरिति भावः॥ २॥

चारि०—तस्याः परिज्ञानाय चिह्नान्तरमाह—हस्त इति। यत्रालकायां वधूनां सीमन्तिनीनां हस्ते कमलम्। उभयत्र जातावेकवचनम्। एतेन घनात्ययस्य नैकट्यं दर्शितम्। अलके कुटिलकेशविन्यासे इहापि जात्याख्यायामेकवचनं बालानां कुन्दानां कुन्दकुसुमानामनुबन्धः सम्बन्धोऽनेन हेमन्तस्य सन्निधिः। तथाऽऽननश्रीर्मुखलक्ष्मीर्लोध्रस्य वृक्षविशेषस्य प्रसवः पुष्पं तस्य रजसा परागेण पाण्डुतां गौरत्वं नीता प्रापिता। एतेन शिशिराभ्याशः। चूडापाशे केशकलापे नवं कुरवकम्। अमुना वसन्तः। कर्णे चारु रम्यं शिरीषं शिरीषपुष्पम्। एतेन तपर्तोः सान्निध्यम्। सीमन्ते। केशसीम्नि च। नीपं कदम्बपुष्पं त्वदुपगमजम्। त्वदुपगमात्प्रादुर्भूतम्। अनेन वर्षागमस्य सामीप्यम्। अत्र सुवर्णाद्याभरणसम्भारपरिहारेण पुष्पादिधारणकथनेन च तत्रत्यानां नितम्बिनीनां सुकुमारत्वं नागरिकत्वं चासूचि 'वधूर्जाया स्नुषा स्त्री च' इत्यमरः। अलकं बालकुन्दानुविद्धमित्यसद्धशः पाठः। 'अलकाश्चूर्णकुन्तलाः' इति पुंस्त्वनिर्देशात्। प्रक्रमभङ्गदोषपोषप्रसङ्गाच्च। यद्यपि कुन्दपुष्पं शिशिरचिह्नं तथाऽपि हेमन्तस्यापि, हेमन्ते उत्पत्तेः। शिशिरे प्रौढीभावात् अतो बाल इति प्रयोगः। सर्वत्र जातावेकवचनं ज्ञेयम्॥ २॥

भाव०—हे जलद! यत्रालकायां कामिनीनां करे कमलम्, कुन्तलेषु नवकुन्दग्रथनम्, मुखे लोध्रपुष्पप्रलेपः, केशकलापे नवकुरवकं, कर्णे शिरीषं, मस्तककेशवीथ्यां कदम्बकुसुमं च समं सर्वर्तुस्थितिज्ञानं समुत्पादयति, तामलकां याहि॥ २॥

सौ०—हे मेघ! अलकामें षड् ऋतुएं सदा विराजमान रहती हैं, अतः सदा छए ऋतुके फूल फूला करते हैं। यथा—जिस अलका नगरीमें नववधुएं हाथोंमें लीलाकमल धारण करती हैं। शरद्में कमल होता है। अलक (केशपाश) में बालकुन्दोंको बांधती हैं। बालकुन्द हेमन्तमें होता है। अपने मुखोंको लोध्रपुष्पके परागोंसे विमल करती हैं—पाउडर लगाती हैं। लोध्रपुष्प शिशिरमें होता है। अपने चूडापाश (जूड़ों) में नवकुरवकका पुष्प बाँधती हैं। नवकुरवक वसन्तमें होता है। कानोंमें शिरीष-कुसुम धारण करती हैं। शिरीष-कुसुम ग्रीष्म कालमें होता है। वे लोग सीमन्तों (मस्तकवीथियों) में आपके समयमें (वर्षामें) उत्पन्न कदम्बको लगाती हैं॥ २॥

[यत्रोन्मत्तभ्रमरमुखराः पादपा नित्यपुष्पा
हंसश्रेणीरचितरशना नित्यपद्मा नलिन्यः।
केकोत्कण्ठा भवनशिखिनो नित्यभास्वत्कलापा
नित्यज्योत्स्नाः प्रतिहततमोवृत्तिरम्याः प्रदोषाः॥]

सञ्जी०—यत्रेति। यत्रालकायां पादपा वृक्षाः नित्यानि पुष्पाणि येषां ते तथा। न त्वृतुनियमादिति भावः। अत एवोन्मत्तैर्भ्रमरैर्मुखराः शब्दायमानाः। नलिन्यः

पद्मिन्यो नित्यानि पद्मानि यासां तास्तथा न तु हेमन्तवर्तितमित्यर्थः। अत एव हंसश्रेणीभी रचितरशनाः। नित्यं हंसपरिवेष्टिता इत्यर्थः। भवनशिखिनः क्रीडा-मयूरा नित्यं भास्वन्तः कलापा बर्हाणि येषां ते तथोक्ताः। न तु वर्षास्वेव। अत एव केकाभिरुत्कण्ठा उद्ग्रीवाः। प्रदोषा रात्रयो नित्या ज्योत्स्ना येषां ते। न तु शुक्लपक्ष एव। एत एव प्रतिहता तमसां वृत्तिर्व्याप्तिर्येषां ते च ते रम्याश्चेति तथोक्ताः।

भाव०—यत्रालकायां सर्वर्तुषु पुष्पवन्तस्तरवः, हेमन्तेऽपि विकसितपद्मवत्यो नलिन्यः, वर्षातिरिक्तकालेऽपि नृत्यन्तो गृहमयूराः प्रसूतपिच्छसुषमाधारिणः केका भिरुद्ग्रीवाश्च, रात्रयः कृष्णपक्षेऽपि निरन्तरचन्द्रिकावत्यो वर्तन्ते, तामलकां, याहि।

सौ०—हे मेघ! जिस अलकाके वृक्ष, नित्य पुष्पोंसे प्रफुल्लित तथा मत्त भ्रमरोंसे गुंजायमान रहते हैं। जिसकी बावलियाँ नित्य कमलोंसे प्रफुल्लित रहती हैं। जिससे उनमें हंसपंक्तियाँ मेखलाके समान (करधनीके समान) दिखलायी देती हैं। वहाँ पाले हुए क्रीडामयूरों (मोरों) के पिच्छ सदा चमकदार रहते हैं तथा ऊँची ग्रीवायें (कण्ठोंको) करके शोभा करते हैं। वहाँ नित्य चन्द्रिका (चाँदनी) से युक्त रात्रि होती है जो बड़ी रम्य दीखती है।

[आनन्दोत्थं नयनसलिलं यत्र नान्यैर्निमित्तै-
र्नान्यस्तापः कुसुमशरजादिष्टसंयोगसाध्यात्।
नाप्यन्यस्मात्प्रणयकलहाद्विप्रयोगोपपत्ति-
र्वित्तेशानां न च खलु वयो यौवनादन्यदस्ति॥]

सञ्जी०—आनन्देति। यत्रालकायां वित्तेशानां यक्षाणाम्। 'वित्ताधिपः कुबेरः स्यात्प्रभौ धनिकयक्षयोः' इति शब्दार्णवः। आनन्दोत्थमानन्दजन्यमेव नयनसलि-लम्। अन्यैर्निमित्तैः शोकादिभिर्न। इष्टसंयोगेन प्रियजनसमागमेन साध्यान्निवर्त-नीयात्। न त्वप्रतीकार्यादित्यर्थः। सुकुमशरजान्मदनशरजादन्यस्तापो नास्ति प्रणयकलहादन्यस्मात्कारणाद्विप्रयोगोपपत्तिर्विरहप्राप्तिरपि नास्ति। किं च यौवनाद-न्यद्वयो वार्धकं नास्ति॥ श्लोकद्वयं प्रक्षिप्तम्।

चारि०—आनन्दोत्थमिति। यत्र पुरि वित्तेशानां यक्षाणां नयनसलिलं नेत्रजल-मानन्दोत्थं हर्षोत्पन्नमन्यैर्निमित्तैः शोकसन्तापादिभिर्न। इष्टसंयोगेन साध्यानि-वारणीयात्। कुसुमशरः कामः तस्माज्जातात्तापादन्यस्तापो न। प्रणयकलहान्यत्र विप्रयोगस्य वियोगस्योपपत्तिः सद्भावो न। तथा यौवनादन्यद्वयश्च न खल्वस्ति।

भाव०—यत्रालकायां यक्षाणामानन्दोद्भूतमेव नेत्रजलं, कामोद्भूत एव सन्तापः, प्रणयकलह एव प्रियया विप्रयोगः, यौवनं विहाय नान्यद्वयश्च वर्तते, तामलकां याहि।

सौ०—हे मेघ ! जिस अलकानगरीमें यक्षोंके नेत्रोंसे आनन्दके अतिरिक्त अन्य कारणों से आँसू नहीं गिरते हैं। प्रियजनके समागमसे प्रशमन होनेवाले कामज्वरके अतिरिक्त अन्य कोई ताप नहीं है। प्रणयकलहके अतिरिक्त वियोगका कष्ट नहीं है। युवावस्थाके अतिरिक्त अन्य कोई अवस्था ही वहाँ नहीं हैं। सभी वहाँ युवक है और युवती हैं।

यस्यां यक्षाः सितमणिमयान्येत्य हर्म्यस्थलानि
ज्योतिश्छायाकुसुमरचितान्युत्तमस्त्रीसहायाः ।
आसेवन्ते मधु रतिफलं कल्पवृक्षप्रसूतं
त्वद्गम्भीरध्वनिषु शनकैः पुष्करेष्वाहतेषु ॥ ३ ॥

सञ्जी०—यस्यामिति। यस्यामलकायां यक्षा देवयोनिविशेषा उत्तमस्त्रीसहाया ललिताङ्गनासहचराः सन्तः सितमणिमयानि स्फटिकमणिमयानि चन्द्रकान्तमयानि वा। अत एव ज्योतिषां तारकाणां छायाः प्रतिबिम्बान्येव कुसुमानि तै रचितानि परिष्कृतानि। 'ज्योतिस्ताराग्निभाज्वालादृक्पुन्नार्थाध्वरात्मसु' इति वैजयन्ती। एतेन पानभूमेरम्लानशोभत्वमुक्तम्। हर्म्यस्थलान्येत्य प्राप्य। त्वद्गम्भीरध्वनिरिव ध्वनिर्येषां तेषु पुष्करेषु वाद्यभाण्डमुखेषु। 'पुष्करं करिहस्ताग्रे वाद्यभाण्डमुखे जले' इत्यमरः। शनकैर्मन्दमाहतेषु सत्सु। एतच्च नृत्यगीतयोरप्युपलक्षणम्। कल्पवृक्षप्रसूतं कल्पवृक्षस्य काङ्क्षितार्थप्रदत्वान्मध्वपि तत्र प्रसूतम्। रतिः फलं यस्य तद्रतिफलाख्यं मधु मद्यमासेवन्ते। आदरेण पिबन्तीत्यर्थः। 'तालक्षीरसिताऽमृतामलगुडोन्मत्तास्थिकालाह्वय-दार्विन्द्रद्रुममोरटेक्षुकदलीगुल्मप्रसूनैर्युतम्। इत्थं चेन्मधुपुष्पभङ्ग्युपचितं पुष्पद्रुमूलावृतं, क्वाथेन स्मरदीपनं रतिफलाख्यं स्वादु शीतं मधु ॥' इति मदिरार्णवः ॥ ३ ॥

चारि०—भूयोऽपि वर्णनेन तमुत्साहयति—यस्यामिति। यस्यामलकायामुत्तमाः स्त्रियः सहाया येषां ते तादृशाः सन्तो यक्षा हर्म्यस्थलानि एत्य प्राप्य पुष्करेषु वाद्यभाण्डमुखेषु शनकैराहतेषु सत्सु रतिः फलं यस्य तत्। कल्पवृक्षात्प्रसूतं जातं मधु मद्यमासेवन्ते आस्वादयन्ति। कीदृशानि हर्म्यस्थलानि सितमणिमयानि। स्फटिकमणिरचितानि। अत एव ज्योतिषां नक्षत्राणां छाया प्रतिबिम्बान्येव कुसुमरचनानि। कीदृशेषु पुष्करेषु तवेव गम्भीरो ध्वनिर्येषां तेषु 'पुष्करं करिहस्ताग्रे वाद्यभाण्डमुखे जले। व्योम्नि खड्गफले पद्मे तीर्थौषधिविशेषयोरि'त्यमरः ॥ ३ ॥

भाव०—हे जलद ! यत्रालकायां ललितस्त्रीसहिता यक्षाः स्फटिकमणिमयानि ताराप्रतिबिम्बपुष्परचनाशालीनि हर्म्यस्थलान्यारुह्य त्वद्गम्भीरध्वनिषु पुष्करेषु मन्दमन्दमाहतेषु सत्सु कल्पतरूद्भवं रतिफलाख्यं मद्यमासेवन्ते, तां याहि ॥ ३ ॥

सौ०—हे मेघ ! जिस अलकापुरीमें यक्षगण ललिताङ्गनाओंके साथ नक्षत्रोंके प्रति

विम्बित पुष्पोंसे जडित स्फटिकके फर्शोंपर बैठकर आपको गम्भीरध्वनिके समान नगाड़े के बजने पर कल्पतरुसे उत्पन्न रति-फल मधुका पान करते हैं ॥ ३ ॥

मन्दाकिन्याः सलिलशिशिरैः सेव्यमाना मरुद्भि-
र्मन्दाराणामनुतटरुहां छायया वारितोष्णाः ।
अन्वेष्टव्यैः कनकसिकतामुष्टिनिक्षेपगूढैः
संक्रीडन्ते मणिभिरमरप्रार्थिता यत्र कन्याः ॥ ४ ॥

सञ्जी०—मन्दाकिन्या इति । यत्रालकायाममरैः प्रार्थिताः । सुन्दर्यं इत्यर्थः । कन्या यक्षकुमार्यः । 'कन्या कुमारिकानार्योः' इति विश्वः । मन्दाकिन्या गङ्गायाः सलिलेन शिशिरैः शीतलैर्मरुद्भिः सेव्यमानाः सत्यः । तथानुतटं तटेषु रोहन्तीत्यनु-तटरुहः । क्विप् । तेषां मन्दाराणां छाययाऽनातपेन वारितोष्णाः शमितातपाः सत्यः, कनकस्य सिकतासु मुष्टिभिर्निक्षेपेण गूढैः संवृतैरत एवान्वेष्टव्यैर्मृग्यैर्मणिभी रत्नैः संक्रीडन्ते गुप्तमणिलंक्षणा दैशिकक्रीडया सम्यक्क्रीडन्तीत्यर्थः । 'क्रीडोऽनुसंपरि-भ्यश्च' इत्यात्मनेपदम् । 'रत्नादिभिर्वालुकायां गुप्तैर्द्रष्टव्यकर्मभिः । कुमारीभिः कृता क्रीडा नाम्ना गुप्तमणिः स्मृताः । रासक्रीडा गूढमणिर्गुप्तकेलिस्तुलायनम् । पिण्ड-कन्दुकदण्डाद्यैः स्मृता दैशिकपेलवः ॥' इति शब्दार्णवः ॥ ४ ॥

चारि०—भूयोऽपि तां वर्णयति–मन्दाकिन्या इति । यत्रालकायां कन्या अन्वेष्ट-व्यैर्गवेषणीयैः कनकमयीषु सिकतासु वालुकासु मुष्टिनिक्षेपेण गूढैर्गुप्तैर्मणिभिः कृत्वा सङ्क्रीडन्ते दीव्यन्ति । कीदृश्यः अमरैः प्रार्थिता याचिताः । तथा मन्दाकिन्या सलिलेन शिशिरैः शीतलैर्मरुद्भिः पवनैः सेव्यमानाः । तटे अनुतटं रोहन्तीति अनु-तटरुहस्तेषां मन्दराणां कल्पतरूणां छायया वारितोष्णाः । सङ्क्रीडन्त इति 'क्रीडोऽनुसंपरिभ्यश्चेति' तङ् ॥ ४ ॥

भाव०—हे जलद ! यत्र सुरप्रार्थिताः सुन्दर्यो यक्षकन्या, मन्दाकिन्यास्तटे तज्ज-लेन शिशिरैः पवनैः सेव्यमानाः सत्यस्तीररुहां मन्दाराणां छायया शमितातपाश्च सत्यः स्वर्णरेणुकासु मणिं निक्षिप्य तदन्वेषणक्रीडां क्रीडन्ति, तामलकां याहि ॥४॥

सौ०—हे मेघ ! जिस अलका नगरीमें सुन्दरी यक्षकन्याएँ, गङ्गाजीके जलसे शीतल हुए पवनसे शीतल होकर, तटमें उत्पन्न हुए मन्दार आदि वृक्षोंकी छायासे अपनी गरमी शान्तकर, स्वर्णकी बालूकी मुट्ठियोंमें मणियोंको छिपाकर उन मणियोंके खोजनेकी क्रीड़ा किया करती है ॥ ४ ॥

नीवीबन्धोच्छ्वसितशिथिलं यत्र बिम्बाधराणां
क्षौमं रागादनिभृतकरेष्वाक्षिपत्सु प्रियेषु ।

अर्चिस्तुङ्गानभिमुखमपि प्राप्य रत्नप्रदीपान्
ह्रीमूढानां भवति विफलप्रेरणा चूर्णमुष्टिः ॥ ५ ॥

सञ्जी०—नीवीति । यत्रालकायामनिभृतकरेषु चपलहस्तेषु प्रियेषु । नीवी वसनग्रन्थिः । 'नीवी परिपणे ग्रन्थौ स्त्रीणां जघनवाससि' इति विश्वः । सैव बन्धो नीवीबन्धः । चूतवृक्षवद्वीप्सत्वप्रयम् । तस्योच्छ्वसितेन त्रुटितेन शिथिलं क्षौमं दुकूलं रागादाक्षिपत्स्वाहरत्सु सत्सु ह्रीमूढानां लज्जाविधुराणाम् । बिम्बं बिम्बिकाफलम् । 'बिम्बं फले बिम्बिकायाः प्रतिबिम्बे च मण्डले' इति विश्वः । बिम्बमिवाधरो यासां तासां बिम्बाधराणां स्त्रीविशेषाणाम् 'विशेषाः कामिनी कान्ता भीरुर्बिम्बाधराङ्गना' इति शब्दार्णवः । चूर्णस्य कुङ्कुमादेर्मुष्टिः । अर्चिभिर्मयूखैस्तुङ्गान् 'अर्चिर्मयूख-शिखयोः' इति विश्वः । 'रत्नान्येव प्रदीपानभिमुखं यथा तथा प्राप्यापि विफलप्रेरणा दीपनिर्वापणाक्षमत्वाद्विफलवेगा भवति । अत्राङ्गनानां रत्नप्रदीपनिर्वापणप्रवृत्त्या मौग्ध्यं व्यज्यते ॥ ५ ॥

चारि०—भङ्ग्यन्तरेण पुनरपि तां ज्ञापयति—नीवीति । यत्रालकायां कामाद-निभृता व्याप्रियमाणाः करा येषु तेषु प्रियेषु वल्लभेषु नीवीबन्धः परिधानवासो विन्यासविशेषस्तस्योच्छ्वासितेन विकासेन शिथिलं वासो वस्त्रमाक्षिपत्सु सत्सु ह्रीमूढानां लज्जामुग्धानां यथाङ्गनानां चूर्णमुष्टिर्मुखावासकर्पूरादिर्विफलप्रेरणा भवति । किं कृत्वा अर्चिस्तुङ्गान् दीप्तिभिरुच्चान् रत्नान्येव दीपास्तानभिमुखं प्राप्य । अयमर्थः । मुग्धा यथाङ्गनाः सुरतक्षणे दीपशमनाय चूर्णमुष्टिं प्रक्षिपन्ति । रत्नदीपानां विनाशाभावाद्विफला भवन्तीति भावः ॥ ५ ॥

भाव०—हे जलद ! यत्र, प्रियतमैः कामादपहृतवस्त्राः कामिन्यो लज्जिताः सत्य-संमुखस्थितान् रत्नप्रदीपान् चूर्णमुष्टिप्रक्षेपैर्निर्वापयितुं न समर्था भवन्ति ॥ ५ ॥

सौ०—हे मेघ ! जिस अलकापुरीमें चंचल हाथोंवाले कामी प्रियोंके द्वारा (रमणियोंसे सम्भोग करते समय) स्त्रियोंके नीवीबन्धके ढीले पड़नेसे उनके खिसके वस्त्र खींचे जाते हैं। उस समय लज्जाशीला वे लाल अधरोष्ठवाली रमणियाँ देदीप्यमान दीपकोंके ऊपर चूर्णमुष्टि (कर्पूर आदिकी बुकनी) फेंककर उन मणिमय दीपकोंको बुझानेका यत्न करती हैं। किन्तु उस चूर्णमुष्टि से तो तैलदीपक ही बुझाये जा सकते हैं—मणिदीपक नहीं ॥ ५ ॥

नेत्रा नीताः सततगतिना यद्विमानाग्रभूमी-
रालेख्यानां स्वजलकणिकादोषमुत्पाद्य सद्यः ।
शङ्कास्पृष्टा इव जलमुचस्त्वादृशा जालमार्गै-
र्धूमोद्गारानुकृतिनिपुणा जर्जरा निष्पतन्ति ॥ ६ ॥

सञ्जी०—नेत्रेति । हे मेघ ! नेत्रा प्रेरकेण सततगतिना सदागतिना वायुना । 'मातरिश्वा सदागतिः' इत्यमरः । यद्विमानाग्रभूमीः यस्या अलकाया विमानानां

सप्तभूमिकभवनानामग्रभूमीरुपरिभूमिका नीताः प्रापिताः। त्वमिव दृश्यन्त इति त्वादृशाः त्वत्सदृशा इत्यर्थः। 'त्यदादिषु दृशोऽनालोचने कञ्च' इति कञ्प्रत्ययः। जलमुचो मेघाः। आलेख्यानां सचित्राणाम्। 'चित्रं लिखितरूपाद्यं स्यादालेख्यं तु यत्नतः' इति शब्दार्णवः। स्वजलकणिकाभिर्जलकणैर्दोषं स्फोटनमुत्पाद्य सद्यः शङ्कास्पृष्टा इव सापराधत्वाद्भयाविष्टा इव। 'शङ्का वितर्कभययोः' इति शब्दार्णवः। धूमोद्गारस्य धूमनिर्गमस्यानुकृतावनुकरणे निपुणाः कुशलाः। जर्जरा विशीर्णाः सन्तः जलमार्गैर्गवाक्षरन्ध्रैर्निष्पतन्ति निष्क्रामन्ति। केनचिदन्तःपुरसंचारवता दूतेन गूढवृत्त्या रहस्यभूमिं प्रापितास्तत्र स्त्रीणां व्यभिचारदोषमुत्पाद्य सद्यः साशङ्काः क्लृप्तवेषान्तरा जाराः क्षुद्रमार्गैर्निष्क्रामन्ति तद्वदिति ध्वनिः। प्रकृतार्थे शङ्कास्पृष्टा इवेत्युत्प्रेक्षा॥ ६॥

चारि०—नेत्रेति। भो मेघ! यत्र त्वमिव दृश्यन्ते त्वादृशा जलमुचो मेघाः पाठान्तरे जलस्य लवं कणिकां मुञ्चन्तीति जललवमुचो नेत्रा प्रापकेण सततगतिना मरुता विमानाः सप्तभूमिकाः प्रासादाः तेषामग्रभूमीः नीताः प्रापिताः सन्तः। आलेख्यानां तत्रत्यचित्राणां सलिलस्य कणिका लवास्ताभिर्दोषं नाशरूपमुत्पाद्य सद्यः शङ्कास्पृष्टाः भयभीता इव। चित्रविनाशं विलोक्यास्मान् कोऽपि ग्रहीष्यतीति शङ्कमानाः धूमस्योद्गारो निर्गमस्तस्यानुकृतिषु अनुसरणेषु निपुणाः समर्थाः। जर्जराः सन्तो यत्र जालैर्मुरजबन्धादिजालैर्निष्पतन्ति निर्गच्छन्ति॥ ६॥

भाव०—हे जलद! यथा केनचिदन्तःपुरसंचारवता पुंसा गूढवृत्त्या रहस्यभूमिं प्रापितास्तत्र स्त्रीणां व्यभिचारदोषमुत्पाद्य सद्यः शङ्कातङ्कितचित्ता धृतवेषान्तरा जारजनाः क्षुद्रमार्गैर्निष्क्रामन्ति तथा पवनेन यासु प्रासादोपरिभूमिकासु प्रापितास्तासु वारिकणैः सच्चित्रेषु दोषमुत्पाद्य शङ्कास्पृष्टा इव त्वादृशा वारिमुचो गवाक्षरन्ध्रैर्निर्गच्छन्ति, तामलकां याहि॥ ६॥

सौ०—हे मेघ! सदा गतिवाले पवनद्वारा अलकापुरी के सात मंजिलवाले भवनोंमें पहुँचाये हुए आपके समान मेघगण, उन भवनों के चित्रों को अपनी नवीन जलबूंदोंसे दूषित करके, सशंकित चित्तसे उन भवनोंकी खिड़कियोंके मार्गसे अपने स्वरूपोंको धूमके सदृश बनाकर—कई भागोंमें विभक्त करके पलायन करते रहते हैं॥ ६॥

यत्र स्त्रीणां प्रियतमभुजालिङ्गनोच्छ्वासितानाम्-
मङ्गग्लानिं सुरतजनितां तन्तुजालावलम्बाः।
त्वत्संरोधापगमविशदैश्चन्द्रपादैर्निशीथे
व्यालुम्पन्ति स्फुटजललवस्यन्दिनश्चन्द्रकान्ताः॥ ७॥

सञ्जी०—यत्रेति। यत्रालकायां निशीथेऽर्धरात्रे। 'अर्धरात्रनिशीथौ द्वौ' इत्यमरः। त्वत्संरोधस्य मेघावरणस्यापगमेन विशदैर्निर्मलैश्चन्द्रपादैश्चन्द्रमरीचिभिः।

'पादा रश्म्यङ्घ्रितुर्यांशाः' इत्यमरः। स्फुटजललवस्यन्दिन उल्बणाम्बुकणस्राविणः। तन्तुजालावलम्बा वितानलम्बिसूत्रपुञ्जाधाराः। तद्‌गुणगुम्फिता इत्यर्थः। चन्द्रकान्ताश्चन्द्रकान्तमणयः। प्रियतमानां भुजैरालिङ्गनेपूच्छ्वासितानां प्रशिथिलीकृतानाम्। श्रान्त्या जलसेकाय वा शिथिलितालिङ्गनानामित्ति यावत्। स्त्रीणां सुरतजनिताम् अङ्गग्लानिं शरीरखेदम्। अवयवानां ग्लानतामिति यावत्। व्यालुम्पन्त्यपनुदन्ति॥ ७॥

चारि०—भूयोऽपि चिह्नान्तरेण ज्ञापयति—यत्रेति। यत्रालकायां तन्तुमयं जालं तन्तुजालमानायस्तत्रावलम्बन्ते प्रसादानामुपरितनेषु भागेषु चन्द्रमणिपञ्चररचना तन्तुजालस्थिता इति भावः। तव संरोधस्यापगमे सति विशदैश्चन्द्रस्य पादैर्मयूखैर्निशीथे रजन्यां स्फुटान् जललवान् स्यन्दिनश्चन्द्रकान्ताः प्रियतमभुजोच्छ्वासितानां प्रियतमभुजदृढालिङ्गितानामित्यर्थः। स्त्रीणां सुरतजनिताम् अङ्गग्लानिं व्यालुम्पन्ति नाशयन्ति। 'जालं समूह आनायगवाक्षक्षारकेष्वपी'त्यमरः। यन्त्रजालेति पाठे यन्त्राणि पुत्रिकाप्रभृतीनि तद्युक्तेषु जालेषु लम्बमाना इति॥ ७॥

भाव०—हे जलद! यत्र निशीथे चन्द्रकिरसंपर्कात् स्रवन्तः प्रासादोपरितनभागस्थिततन्तुजालस्थचन्द्रकान्तमणयः प्रियतमभुजदृढालिङ्गनादिव्यापारैः क्लान्तानां कामिनीनां निधुवनश्रमं दूरीकुर्वन्ति, तामलकां याहि॥ ७॥

सौ०—हे मेघ! जिस अलकानगरीमें आधी रातमें, आपके आच्छादनरूप आवरण हट जानेसे, स्वच्छ चन्द्रकी किरणोंके सम्पर्कसे छज्जोंमें जटित चन्द्रकान्तमणियोंसे जलस्राव हुआ करता है। जो जलस्राव, प्रियतमोंद्वारा किये गये प्रगाढालिंगनोंसे उत्पन्न, वनिताओंके शरीर खेदका प्रशमन किया करता है॥ ७॥

अक्षय्यान्तर्भवननिधयः प्रत्यहं रक्तकण्ठै-
रुद्‌गायद्भिर्धनपतियशः किन्नरैर्यत्र सार्धम्।
वैभ्राजाख्यं विबुधवनितावारमुख्यासहाया
बद्धालापा बहिरुपवनं कामिनो निर्विशन्ति॥ ८॥

सञ्जी०—अक्षय्येति। यत्रालकायाम्। क्षेतुं शक्याः क्षय्याः। 'क्षय्यजय्यौ शक्यार्थे' इति निपातः। ततो नञ्समासः। भवनानामन्तरन्तर्भवनम्। 'अव्ययं विभक्ति—' इत्यादिनाऽव्ययीभावः। अक्षय्या अन्तर्भवने निधयो येषां ते तथोक्ताः। यथेच्छभोगसंभावनार्थमिदं विशेषणम्। विबुधवनिता अप्सरसस्ता एव वारमुख्या वेश्यास्ता एव सहाया येषां ते तथोक्ताः। 'वारस्त्री गणिका वेश्या रूपाजीवाऽथ सा जनैः। सत्कृता वारमुख्या स्यात्।' इत्यमरः। बद्धालापाः संभावितसंलापाः कामिनः कामुकाः प्रत्यहमहन्यहनि। 'अव्ययं विभक्ति—'इत्यादिना समासः। रक्तो मधुरः कण्ठः कण्ठध्वनिर्येषां ते तैः सुस्वरकण्ठध्वनिभिर्धनपतियशः कुबेरकीर्तिमुद्‌गायद्भिः

उच्चैर्गायद्भिः। देवगानस्य गान्धारग्रामत्वात्तारतरं गायद्भिरित्यर्थः। किन्नरैः सार्धं सह। विभ्राजस्येदं वैभ्राजमित्याख्या यस्य तद्वैभ्राजाख्यम्। 'विभ्राजेन गणेन्द्रेण जातं वैभ्राजमाख्यया' इति शंभुरहस्ये। चैत्ररथस्य नामान्तरमेतत्। बहिरुपवनं बाह्योद्यानं निर्विशन्त्यनुभवन्ति ॥ ८ ॥

भाव०—हे जलद! यत्र देवाङ्गनाद्वितीया अक्षय्यधनिनः कामिनो धनेश्वरयशोगायकैः किंनरैः सह चैत्ररथाख्यं बाह्योद्यानं समाश्रयन्ति ॥ ८ ॥

सौ०—हे मेघ! जिस अलकानगरीमें अक्षय्य भोग सामग्रीवाले अप्सरारूपिणी वेश्याओं के साथ संलाप करते हुए (हास-परिहास करते हुए) कामीजन नित्य ही मधुरकण्ठ-ध्वनियोंसे, भगवान् कुबेरकी कीर्तिका उच्चस्वरसे गान करनेवाले किन्नरों के साथ वैभ्राज-नामक बाहरी क्रीडोद्यानमें विचरण किया करते हैं ॥ ८ ॥

गत्युत्कम्पादलकपतितैर्यत्र मन्दारपुष्पैः
पत्रच्छेदैः कनककमलैः कर्णविभ्रंशिभिश्च।
मुक्ताजालैः स्तनपरिसरच्छिन्नसूत्रैश्च हारै-
र्नैशो मार्गः सवितुरुदये सूच्यते कामिनीनाम् ॥ ९ ॥

सञ्जी०—गत्युत्कम्पादिति। यत्रालकायां कामिनीनामभिसारिकाणाम्। निशि भवो नैशो मार्गः सवितुरुदये सति गत्या गमनेनोत्कम्पश्चलनं तस्माद्धेतोरलकेभ्यः पतितैर्मन्दारपुष्पैः सुरतरुकुसुमैः तथा पत्राणां पत्रलतानां छेदैः खण्डैः। पतितैरिति शेषः। तथा कर्णेभ्यो विभ्रंशयन्तीति कर्णविभ्रंशीनिः तैः कनकस्य कमलैः। षष्ठ्या विवक्षितार्थलाभे सति मयटा विग्रहेऽध्याहारदोषः। एवमन्यत्राप्यनुसंधेयम्। तथा मुक्ताजालैर्मौक्तिकसरैः। शिरोनिमितैरित्यर्थः। तथा स्तनयोः परिसरः प्रदेशस्तत्र छिन्नानि सूत्राणि येषां तैर्हारैश्च सूच्यते ज्ञाप्यते। मार्गपतितमन्दारकुसुमादिलिङ्गैरयमभिसारिकाणां मार्ग इत्यनुमीयत इत्यर्थः ॥ ९ ॥

चारि०—पुनरप्येनां वर्णयति—गत्युत्कम्पादि। यत्रालकायां सवितुरादित्यस्योदये एभिः कामिनीनां स्त्रीणां नैशो निशासम्बन्धी मार्गः सूच्यते ज्ञाप्यते इत्यर्थः। एभिः कैरित्याह। गतेर्गमनात् उत्कम्पस्तस्मादलकेभ्यः पतितैः स्रस्तैर्मन्दारपुष्पैः सुरतरुकुसुमैस्तथा कॢप्तं रचितं छेद्यं छेदो येषां तैः कनककमलैर्हेमपद्मैः। कीदृशैः कर्णेभ्यो विस्रंसिभिश्च्युतैर्हारैश्च किं विशिष्टैः। मुक्तासु मौक्तिकेषु कान्तः स्तनाग्रां कुचानां परिमलः सौगन्ध्यं येभ्यस्तैः। छिन्नानि त्रुटितानि सूत्राणि तन्तवो येषां तैः ॥ ९ ॥

भाव०—हे जलद! यत्रालकायां पथि निपतितैः केशस्थितमन्दारपुष्पकर्णाभूषण-

---

१. 'कॢप्तच्छेद्यैः कनककमलैः कर्णविस्रंसिभिश्च। मुक्ताकान्तस्तनपरिमलैश्छिन्नसूत्रैश्च हारैः' इति चारित्रवर्धनीटीकानुसृतः पाठ इत्यवधेयम्।

स्वर्णकमलहारमौक्तिकादिभिः सूर्योदये सत्यभिसारिकाणां रात्रिगमनमार्गो ज्ञाप्यते तामलकां याहि ॥ ९ ॥

सौ०—हे मेघ ! जिस अलका नगरीमें अभिसारिकाओंके रात्रिमें प्रियतमोंके समीप गमन करनेवाले मार्गोको निम्नांकित चिह्नोंसे ज्ञात किया जाता है—वे शीघ्र चलती हैं अतः उनकी वेणियोंसे मन्दार वृक्षके फूल गिर जाते हैं। उनसे तथा उनके कर्णोंपर धारण किये हुए स्वर्णपत्रोंसे एवं माथेमें गूँथी हुई मालाके टूटनेके कारण उनके मोतियोंसे और उनके कुचोंपर धारण की हुई मोतीकी मालाके टूटनेसे उनकी गुरियोंसे ॥ ९ ॥

मत्वा देवं धनपतिसखं यत्र साक्षाद्वसन्तं
प्रायश्चापं न वहति भयान्मन्मथः षट्पदज्यम् ।
सभ्रूभङ्गप्रहितनयनैः कामिलक्ष्येष्वमोघै-
स्तस्यारम्भश्चतुरवनिताविभ्रमैरेव सिद्धः ॥ १० ॥

सञ्जी०—मत्वेति। यत्रालकायां मन्मथः कामः। धनपतेः कुबेरस्य सखेति धनपतिसखः। 'राजाहःसखिभ्यष्टच्'। तं देवं महादेवं साक्षाद्वसन्तं सखिस्नेहान्निजरूपेण वर्तमानं मत्वा ज्ञात्वा भयाद्भालेक्षणभयात्षट्पदा एव ज्या मौर्वी यस्य तं चापं प्रायः प्राचुर्येण न वहति न बिभर्ति। कथं तर्हि तस्य कार्यसिद्धिरत आह—सभ्रूभङ्गेति। तस्य मन्मथस्यारम्भः कामिजनविषयव्यापारः सभ्रूभङ्गं प्रहितानि प्रयुक्तानि नयनानि दृष्टयो येषु तैस्तथोक्तैः कामिन एव लक्ष्याणि तेष्वमोघैः। मन्मथचापोऽपि क्वचिदपि मोघः स्यादिति भावः। चतुराश्च ता वनिताश्च ताश्च तासां विभ्रमैर्विलासैरेव सिद्धो निष्पन्नः। यदनर्थकरं पाक्षिकफलं तत्प्रयोगाद्वरं निश्चितसाधनप्रयोग इति भावः ॥ १० ॥

चारि०—मत्वेति—यत्र पुर्यां धनपतेर्धनदस्य सखा तं महेशं साक्षात्प्रत्यक्षं तिष्ठन्तं मत्वा। प्रायः उत्प्रेक्षायामव्ययम्। भयात् तृतीयनेत्रवह्निभीतेः षट्पदा भ्रमरा एव ज्या यस्य तं चापं न वहति न दधाति। अयि तदुद्देशं प्राप्ते स्मरपीडा कथं भविष्यतीत्याशङ्क्याह। तस्य स्मरस्यारम्भः प्रवृत्तिः सभ्रूभङ्गं भ्रुकुटिकं यथा स्यात्तथा प्रहितनयनैः प्रेषितनयनैः कामिन एव लक्ष्याणि शरव्याणि तेषु। अमोघैः सफलैश्चतुराणां वनितानां विभ्रमैर्विलासैरेव सिद्धो निष्पन्नो भवेत्। 'मन्ये शङ्के ध्रुवं प्रायो नूनमित्येवमादिभिः। उत्प्रेक्षा व्यज्यते शब्दैरिव शब्दोऽपि तादृशः॥' इति दण्ड्यलङ्कारे ॥ १० ॥

भा०—हे जलद ! यत्रालकायां मदनः साक्षान्निवसन्तं हरं वीक्ष्य तद्भयेन भृङ्गमौर्वीकं स्वं धनुर्न बिभर्ति, किन्तु चतुरवनितानां सभ्रूभङ्गकटाक्षैरेव तत्कार्यं निष्पादयति, तामलकां याहि ॥ १० ॥

सौ०—हे मेघ ! जिस अलका नगरीमें भगवान् कुबेरके सुहृद् महादेवजी प्रत्यक्षरूपेण

रहते हैं। इस भीतिसे वहाँ पर कामदेव भ्रमरोंकी ज्यावाले चाप (धनुष) को प्रायः नहीं धारण करता है। किन्तु वह कामदेव अपने कार्यका आरम्भ—कामी पुरुषोंके ऊपर चतुर वनिताओंके भ्रू कुटियुक्त अपांगों के सफल प्रयोगोंसे सिद्ध कर लेता है' ॥ १० ॥

वासश्चित्रं मधु नयनयोर्विभ्रमादेशदक्षं
पुष्पोद्भेदं सह किसलयैर्भूषणानां विकल्पान् ।
लाक्षारागं चरणकमलन्यासयोग्यं च यस्या-
मेकः सूते सकलमबलामण्डनं कल्पवृक्षः ॥ ११ ॥

सञ्जी०—'कचधार्यं देहधार्यं परिधेयं विलेपनम्। चतुर्धा भूषणं प्राहुः स्त्रीणां मन्मथदैशिकम् ॥' इति रत्नाकरे। तदेवैतदाह—वास इति। यस्यामलकायां चित्रं नानावर्णं वासो वसनम्। परिधेयमण्डनमेतत्। नयनयोर्विभ्रमाणामादेश उपदेशो दक्षम्। अनेन विभ्रमद्वारा मधुनो मण्डनत्वमनुसंधेयम्। तच्च मण्डनादिवद्देह-धार्येऽन्तर्भाव्यम्। मधु मद्यम्। किसलयैः पल्लवैः सह पुष्पोद्भेदम्। प्रसवं चेत्यर्थः। इदं तु कचधार्यम्। भूषणानां विकल्पान्विशेषान्। देहधार्यमेतत्। तथा चरणकमल-योर्न्यासस्य समर्पणस्य योग्यम्। रज्यतेऽनेनेति रागो रञ्जकद्रव्यम्। लाक्षैव रागस्तं लाक्षारागं च। इदं च अङ्गरागादिविलेपनमण्डनोपलक्षणार्थम्। सकलं सर्वम्। चतुर्विधमपीत्यर्थः। अबलामण्डनं योषित्प्रसाधनजातमेकः कल्पवृक्ष एव सूते जनयति। न तु नानासाधनसंपादनप्रयास इत्यर्थः ॥ ११ ॥

भाव०—हे जलद ! यत्रालकायां प्रतिवेश्मस्थितः एकः कल्पवृक्ष एव कामिनीनां कृते चित्रवस्त्रमधु-सपल्लवपुष्पोद्भेद-भूषण-लाक्षारागाङ्गरागादि चतुर्विधं समस्त-मबलामण्डनं जनयति, तां याहि ॥ ११ ॥

सौ०—हे मेघ ! उस अलका नगरीमें एक कल्पवृक्ष ही अबलाजनोंके निम्नांकित सभी मण्डनोंको प्रदान किया करता है—अनेक रंगोंके वस्त्र, नयनोंमें कटाक्षको उत्पन्न करने-वाला मद्य, पल्लवोंके सहित पुष्प, नाना प्रकारके अलंकार पादपद्मोंमें लगनेवाला महावर (अलक्तक) आदि ॥ ११ ॥

इत्यमलकां वर्णयित्वा तत्र स्वभवनस्याभिज्ञानमाह—

तत्रागारं धनपतिगृहानुत्तरेणास्मदीयं
दूराल्लक्ष्यं सुरपतिधनुश्चारुणा तोरणेन ।
यस्योपान्ते कृतकतनयः कान्तया वर्धितो मे
हस्तप्राप्यस्तबकनमितो बालमन्दारवृक्षः ॥ १२ ॥

सञ्जी०—तत्रेति। तत्रालकायां धनपतिगृहान् कुबेरगृहादुत्तरेणोत्तरस्मिन्नदूर-देशे। 'एनपन्यतरस्यामदूरेऽपञ्चम्याः' इत्येनप्प्रत्ययः। 'एनपा द्वितीया' इति

द्वितीया। 'गृहाः पुंसि च भूम्न्येव' इत्यमरः। अथवा 'उत्तरेण' इति नैनप्रत्ययान्तं किन्तु 'तोरणेन' इत्यस्य विशेषणं तृतीयान्तम्। धनपतिगृहादुत्तरस्यां दिशि यत्तोरणं बहिर्द्वारं तेन लक्षितमित्यर्थः। अस्माकमिदमस्मदीयम्। 'वृद्धाच्छः' इति छप्रत्ययः। आगारं गृहम्। सुरपतिधनुश्चारुणा मणिमयत्वादङ्गंकपस्थाच्चेन्द्रचापसुन्दरेण तोरणेन बहिर्द्वारेण। दूराल्लक्ष्यं दृश्यम्। अनेनाभिज्ञानेन दूरत एव ज्ञातुं शक्यमित्यर्थः। अभिज्ञानान्तरमाह—यस्यागारस्योपान्ते प्राकारान्तः पार्श्वदेशे मे मम कान्तया वर्धितः पोषितः कृतकतनयः कृत्रिमसुतः। पुत्रत्वेनाभिमन्यमान इत्यर्थः। हस्तेन प्राप्यैर्हस्तावचेयैः स्तवकैर्गुच्छैर्नमितः। 'स्याद् गुच्छकस्तु स्तवकः' इत्यमरः। बालो मन्दारवृक्षोऽस्तीत शेषः॥ १२॥

चारि०—तत्र स्थालयं ज्ञापयितुमाह—तत्रेति। तत्रपुरि धनपतेः कुबेरस्य गृहानुत्तरेणोत्तरतः समीपेऽस्मदीयं यदागारं गृहम्। कीदृशं सुरपतिधनुरिन्द्रचापवच्चारुणा मनोज्ञेन तोरणेन दूरात्लक्ष्यम्। यस्य गृहस्योद्याने कृतकश्चासौ तनयश्च मे मम कान्तया यत्नभया वर्द्धितः। उदकसेकादिना वृद्धिं प्रापितः हस्तेन प्राप्तुं शक्याश्च ते स्तवका गुच्छास्तैर्नमितो बालमन्दारवृक्षोऽस्ति। उत्तरेणेति 'एनबन्यतरस्यामदूरेऽपञ्चम्या' इत्येनप्। अव्ययम्। एनपा द्वितीयेति द्वितीया॥ १२॥

भाव०—हे जलद! तत्रालकायां कुबेरभवनादुत्तरस्यां दिशि इन्द्रचापवच्चारु तोरणाङ्कितं मदीयं भवनं वर्त्तते। यस्य प्राकारान्तः पार्श्वदेशे मत्प्रियया सुतनिर्विशेषं वर्द्धितो बालमन्दारवृक्षोऽभिज्ञानसूचको वर्त्तते॥ १२॥

सौ०—हे मेघ! इस रीतिसे अलकापुरीमें भगवान् कुबेरके गृहसे उत्तरकी ओर इन्द्रधनुषके तुल्य सुन्दर बाहरी द्वारवाला मेरा गृह है। जिसके समीपमें मेरी भार्याद्वारा पुत्रवत् संवर्द्धित तथा हाथों से प्राप्त होनेवाले पुष्पस्तवक (गुच्छे) लटका करते हैं—ऐसा मन्दार का छोटा वृक्ष है॥ १२॥

इतः परं चतुर्भिः श्लोकैरभिज्ञानान्तरमाह—

वापी चास्मिन्मरकतशिलाबद्धसोपानमार्गा
हैमैश्छन्ना विकचकमलैः स्निग्धवैदूर्यनालैः।
यस्यास्तोये कृतवसतयो मानसं सन्निकृष्टं
नाध्यास्यन्ति व्यपगतशुचस्त्वामपि प्रेक्ष्य हंसाः॥ १३॥

सञ्जी०—वापीति। अस्मिन्मदीयागारे मरकतशिलाभिर्बद्धः सोपानमार्गो यस्याः सा तथोक्ता। विदूरे भवा वैदूर्याः। 'विदूराञ्ञ्यः' इति ञ्यप्रत्ययः। वैदूर्याणां विकारा वैदूर्याणि। विकारार्थेऽण्प्रत्ययः। स्निग्धानि वैदूर्याणि नालानि येषां तैर्हैमैः सौवर्णैर्विकचकमलैर्युक्ता वापी च। अस्तीति शेषः। यस्या वाप्यास्तोये कृतवसतयः कृतनिवासा हंसास्त्वां मेघं प्रेक्ष्यापि व्यपगतशुचो वर्षाकालेऽपि व्यप-

गतकलुषत्वाद्वीतदुःखाः सन्तः संनिकृष्टं संनिहितम् । सुगममपीत्यर्थः । मानसं मानससरो नाध्यास्यन्ति नोत्कण्ठया स्मरिष्यन्ति । 'आध्यानमुत्कण्ठापूर्वकं स्मरणम्' इति काशिकायाम् ॥ १३ ॥

चारि०—चिह्नान्तरेण गृहं ज्ञापयति—वापीति । अस्मिन् वापी दीर्घिका चास्ति । कीदृशी । मरकताश्मभिः शिलास्ताभिर्बद्धः सोपानमार्गो यस्याः सा । हेम्न इमानि हैमानि तैर्विकचकमलैर्विकसितपङ्कजैश्छन्ना व्याप्ता । कीदृशैः स्निग्धानि द्युतिमन्ति वैदूर्याणि विदूररत्नमयानि नालानि येषां तैः न केवलं बालमन्दारवृक्ष एव । वापी चेति चकारार्थः । यस्या वाप्यास्तोये । कृतवसतयो हंसा व्यपगता शुक् शोको येषां ते त्वां भवन्तं प्रेक्ष्यापि सन्निकृष्टं समीपं मानसं सरो नाध्यास्यन्ति । न स्मरिष्यन्ति । तोयग्रहणं प्रावृट्कालेऽपि नीरस्य प्रसादातिशयसूचनार्थम् ॥ १३ ॥

भाव०—हे जलद ! अपि च मद्गेहमस्थायामतिनिर्मलसलिलायां वैदूर्यनालैः स्वर्णकमलैरयुतायां मरकतमणिमयसोपानमार्गायां वाप्यां विहरन्तो हंसास्त्वामागतं निरीक्ष्यापि मानसं नोत्कण्ठया स्मरिष्यन्ति ॥ १३ ॥

सौ०—हे जलद ! मेरे गृहमें एक बावली (वापी) है जिसकी सीढ़ियां पन्ना मणिकी बनी हुई हैं। यह बावली चिकने वैदूर्य मणिके जड़े हुए नाल दण्डवाले कमलोंसे आच्छादित है। उस बावलीके जलमें रहनेवाले हंस गण आपको देखकर भी क्लेशरहित होकर सन्निकटमें स्थित मानसरोवरमें जानेका स्मरणतक नहीं करेंगे ॥ १३ ॥

तस्यास्तीरे रचितशिखरः पेशलैरिन्द्रनीलैः
क्रीडाशैलः कनककदलीवेष्टनप्रेक्षणीयः ।
मद्गेहिन्याः प्रिय इति सखे ! चेतसा कातरेण
प्रेक्ष्योपान्तस्फुरिततडितं त्वां तमेव स्मरामि ॥ १४ ॥

सञ्जी०—तस्या इति । तस्या वाप्यास्तीरे पेशलैश्चारुभिः । 'चारौ दक्षे च पेशलः' इत्यमरः । इन्द्रनीलै रचितशिखरः । इन्द्रनीलमणिमयशिखर इत्यर्थः । कनककदलीनां वेष्टनेन परिधिना प्रेक्षणीयो दर्शनीयः क्रीडाशैलः । अस्तीति शेषः । हे सखे ! उपान्तेषु प्रान्तेषु स्फुरितास्तडितो यस्य तत्तथोक्तम् । इदं विशेषणं कदलीसाम्यार्थमुक्तम् । इन्द्रनीलसाम्यं तु मेघस्य स्वाभाविकमित्यनेन सूच्यते । त्वां प्रेक्ष्य मद्गेहिन्याः प्रिय इति हेतोः । तस्य शैलस्य मद्गृहिणीप्रियत्वाद्धेतोरित्यर्थः । कातरेण भीतेन चेतसा । भयं चात्र सानन्दमेव । 'वस्तूनामनुभूतानां तुल्यश्रवणदर्शनात् । श्रवणात्कीर्तनाद्वापि सानन्दा भीर्यथा भवेत् ।' इति रसाकरे दर्शनात् । तमेव क्रीडाशैलमेव स्मरामि । एवकारो विषयान्तरव्यवच्छेदार्थः । सदृशवस्त्वनुभवाद्विषयार्थस्मृतिर्जायत इत्यर्थः । अत एवात्र स्मरणाख्योऽलंकारः । तदुक्तम्—'सदृशानुभवादन्यस्मृतिः स्मरणमुच्यते' इति । निदर्शनकारस्तु 'त्वां तमेव स्मरामि' इति

योजयित्वा मेघे शैलत्वारोपमाचष्टे तदसंगतम्। अन्यथाकारारोपस्य पुरोवर्तिन्यनुभवात्मकत्वेन स्मरतिशब्दप्रयोगायोगात् शैलत्वभावनास्मृतिरित्यपि नोपपद्यते। भावनायाः स्मृतित्वे प्रमाणाभावादनुभवायोगात्साधर्म्योपन्यासस्य वैयर्थ्याच्च विसदृशेऽपि शालग्रामे हरिभावनादर्शनादिति ॥ १४ ॥

पारि०—वापीमेव निरूपयन्नाह—तस्या इति। तस्या वाप्यास्तीरे तटे क्रीडाशैलः पर्वतोऽस्ति। क्रीडशः पेशलैः रम्यैरिन्द्रनीलैर्पिहितानि पाठान्तरे रचितानि शिखराणि यस्य स तथा। कनककदलीनां वेष्टनेन वृत्या प्रेक्षणीयः। हे सखे मित्र! उपान्तेषु पार्श्वेषु स्फुरिता विकसितास्तडितो विद्युतो यस्य तत्तथोक्तं त्वां प्रेक्ष्य दृष्ट्वा मद्गेहिन्याः प्रिय इति हेतोः कातरेण भययुक्तेन चेतसा मनसा तमेव क्रीडाशैलमेव स्मरामि। स्मृतित्वे कारणं संस्कारोद्बोधहेतुः। 'सदृशादृष्टचिन्ताद्या' इत्युक्तत्वादिन्द्रनीलशिखरेण कदलीवेष्टितेन पर्वतेन विद्युदाश्लिष्टमेघसादृश्यः ॥ १४ ॥

भाव०—हे जलद! तस्या वाप्यास्तटेऽतिमनोहरः कनककदलीमण्डित इन्द्रनीलमणिमयशिखरः क्रीडाशैलो वर्तते, तडिद्विलाससहितं त्वां संप्रति निरीक्ष्य तमेव मद्गेहिनीप्रियं शैलं स्मरामि ॥ १४ ॥

सौ०—हे मेघ! उस बावलीके तट (तीर) में सुवर्णके कदलियोंसे परिवेष्टित तथा दर्शनीय एवं सुन्दर इन्द्रनील-मणियोंका बना हुआ एक क्रीडाशैल है। हे सखे! आपके उपान्तमें चमकती हुई बिजलीको देखकर मैं अधीर मनसे आपके लिए सोचने लगती हूँ कि शायद आप मेरी प्रियाको प्रिय लगनेवाले वही सोनेके केलोंसे आच्छादित सुन्दर इन्द्रनीलमणिवाले क्रीडाशैल ही हों ॥ १४ ॥

रक्ताशोकश्चलकिसलयः केसरश्चात्र कान्तः
प्रत्यासन्नौ कुरवकवृतेर्माधवीमण्डपस्य।
एकः सख्यास्तव सह मया वामपादाभिलाषी
काङ्क्षत्यन्यो वदनमदिरां दोहदच्छद्मनाऽस्याः ॥ १५ ॥

सञ्जी०—रक्तेति। अत्र क्रीडाशैले कुरवका एवं वृतिरावरणं यस्य तस्य। मधौ वसन्ते मधा माधव्यस्तासां मण्डपस्तस्यातिमुक्तलतागृहस्य। 'अतिमुक्तः पुण्ड्रकः स्याद्वासन्ती माधवी लता' इत्यमरः। प्रत्यासन्नौ संनिकृष्टौ चलकिसलयश्चञ्चलपल्लवः। अनेन वृक्षस्य पादताडनेषु प्राञ्जलित्वं व्यज्यते। रक्ताशोकः। रक्तविशेषणं तस्य स्मरोद्दीपकत्वादुक्तम्। 'प्रसूनकैरशोकस्तु श्वेतो रक्त इति द्विधा। बहुसिद्धिकरः श्वेतो रक्तोऽत्र स्मरवर्धनः।' इत्यशोककल्पे दर्शनात्। कान्तः कमनीयः केसरो बकुलश्च। 'अथ केसरे। बकुलो वञ्जुलः' इत्यमरः। स्त इति शेषः। एकस्तयोरन्यतरः। प्राथमिकत्वादशोक इत्यर्थः। मया सह तव सख्याः। स्वप्रियाया इत्यर्थः। वामपादाभिलाषी। दोहदच्छद्मनेत्यत्रापि संबन्धनीयम्। स चाहं च। अभिलाषि-

णाविरयर्थः । अन्यः केसरः । दोहदं वृक्षादीनां प्रसवकारणं संस्कारद्रव्यम् । 'तरु-गुल्मलतादीनामकाले कुशलैः कृतम् । पुष्पाद्युत्पादकं द्रव्यं दोहदं स्यात्तु तत्क्रिया ।' इति शब्दार्णवः । तस्य छद्मना व्याजेन । 'कपटोऽस्त्री व्याजदम्भोपधयश्छद्मकैतवे' इत्यमरः । अस्यास्तव सख्या वदनमदिरां गण्डूषमद्यं काङ्क्षति । मया सहेत्यत्रापि सम्बन्धनीयम् । अशोकवकुलयोः स्त्रीपादताडनगण्डूषमदिरे दोहदमिति प्रसिद्धिः । 'स्त्रीणां स्पर्शात्प्रियङ्गुर्विकसति वकुलः सीधुगण्डूषसेकात्पादाघातादशोकस्तिलक-कुरवकौ वीक्षणालिङ्गनाभ्याम् । मन्दारो नर्मवाक्यात्पटुमृदुहसनाच्चम्पको वक्त्र-वाताच्चूतो गीतान्नमेरुर्विकसति च पुरो नर्तनात्कर्णिकारः ॥ १५ ॥

चारि०—रक्तेति । तत्र गृहे चलानि किसलयानि पल्लवा यस्य स तथा । रक्त-श्चासावशोकश्च कान्तः केसरो वकुलश्च कुरवको वृक्षविशेषो वृतिरावरणं यस्य माधव्या वासन्त्या मण्डपस्य प्रत्यासन्नौ समीपवर्तिनौ तिष्ठतः । तयोर्मध्ये एकोऽ-शोको दोहदमेव छद्म व्याजस्तेन मया सह तव सख्या वल्लभाया वामपादाभिलाषी वामचरणाभिलाषुकः । यथाऽहं सापराधः पादप्रसादं वाञ्छामि । तद्वदित्यर्थः । अन्यः केसरो दोहदच्छद्मना मत्प्रियाया मया सह वदनमदिरां मुखमद्यमाकाङ्क्षति । यथाहं स्नेहेनाननासवमाकाङ्क्षामि तथाऽयमपीत्यर्थः । स्त्रीचरणप्रहारेणाशोकस्य योषामुखसीधुवितरणेन केसरस्य बहुलकुसुमाद्युत्पत्तिः ॥ १५ ॥

भा०—हे जलद ! तत्र क्रीडाशैले कुरवकवृतियुक्तस्य माधवीमण्डपस्य संनि-कृष्टौ रक्ताशोको वकुलश्च स्तः तत्रैकस्तव सख्या मत्प्रियाया वामचरणाघातमन्यो वदनमद्यगण्डूषं चापेक्षते ॥ १५ ॥

सौ०—हे मेघ ! क्रीडाशैलपर, कुरवक वृक्षोंकी पांतिवाले वासन्ती लता-मण्डपके समीप रक्ताशोक एवं सुन्दर वकुलके दो वृक्ष लगे हुए हैं । उनमेंसे एक रक्ताशोक—मेरे साथ आपकी सखीके बाएँ पैरके ताड़नका अभिलाषी है । दूसरा वकुल—प्रफुल्लित होनेके लिए आपकी सखीके मुखकी मदिरा उच्छिष्टरूपमें चाहता है । प्रसिद्ध ही है कि, अशोक और वकुल क्रमशः स्त्रीपादताडन एवं मुखका उच्छिष्ट पाकर फूलते हैं ॥ १५ ॥

तन्मध्ये च स्फटिकफलका काञ्चनी वासयष्टि-
मूंले बद्धा मणिभिरनतिप्रौढवंशप्रकाशैः ।
तालैः शिञ्जावलयसुभगैर्नर्तितः कान्तया मे
यामध्यास्ते दिवसविगमे नीलकण्ठः सुहृद्वः ॥ १६ ॥

सञ्जी०—तन्मध्य इति । किं चेति चार्थः । तन्मध्ये तयोर्वृक्षयोर्मध्येऽनतिप्रौढा-नामनतिकठोराणां वंशानां प्रकाश इव प्रकाशो येषां तैस्तरुणवेणुसच्छायैर्मणि-भिर्मरकतशिलाभिर्मूले बद्धा । कृतवेदिकेत्यर्थः । स्फटिकं स्फटिकमयं फलकं पीठं यस्याः सा काञ्चनस्य विकारः काञ्चनी सौवर्णी वासयष्टिर्निवासदण्डः अस्तीति

शेषः। शिञ्जा भूषणध्वनिः 'भूषणानां तु शिञ्जितम्' इत्यमरः। भिदादित्वादङ्। शिञ्जिधातुरयं तालव्यादिर्न तु दन्त्यादिः। शिञ्जाप्रधानानि वलयानि तैः सुभगा रम्यास्तैस्तालैः करतलवादनैर्मे मम कान्तया नर्तितो वो युष्माकं सुहृत्सखा नीलकण्ठो मयूरः। 'मयूरो बर्हिणो बर्हो नीलकण्ठो भुजङ्गभुक्' इत्यमरः। दिवसविगमे सायंकाले यां यष्टिकामध्यास्ते। यष्ट्यामास्त इत्यर्थः। 'अधिशीङ्स्थासां कर्म' इति कर्मत्वाद् द्वितीया। 'तत्रागारम्' इत्यारभ्य पञ्चसु श्लोकेषु समृद्धवस्तुवर्णनादुदात्तालङ्कारः। तदुक्तम्—'तदुदात्तं भवेद्यत्र समृद्धं वस्तु वर्ण्यते' इति। न चैषा स्वभावोक्तिर्भाविकं वा, तत्र यथास्थितवस्तुवर्णनात्। अत्र तु 'कविप्रतिभोत्थापितसंभाव्यमानैश्वर्यशालिवस्तुवर्णनादारोपितविषयत्वमिति 'ताभ्यामस्य भेदः' इत्यलङ्कारसर्वस्वकारः॥ १६॥

चारि०—भूयोऽपि निजालयं चिह्नान्तरेण ज्ञापयति—तन्मध्य इति। तन्मध्ये गृहमध्ये काञ्चनस्य विकारः काञ्चनी च वासयष्टिर्निवासदण्डोऽस्ति। चकार उक्तसमुच्चये। कीदृशी स्फटिकमयं फलकं यस्याः सा। तथाऽनतिप्रौढा नवा वंशास्तद्वत्प्रकाशन्ते तैर्मणिभिर्मरकतैर्मूले बद्धा। भो मेघ दिवसविगमे दिनावसाने यां वासयष्टिं वो युष्माकं सुहृन्मित्रं नीलकण्ठो मयूरोऽध्यास्ते। कीदृशः। मे मम कान्तया प्रिया शिञ्जा शिञ्जितं तद् युक्तानि वलयानि तैः सुभगै रम्यैस्तालैः करतलास्फालनवाद्यैः कृत्वा नर्त्तिता। अध्यास्त इति 'अधिशीङ्स्थासां कर्म'। सिञ्जद्वलयसुभगैरित्यशुद्धः पाठः। 'सिजि अव्यक्ते शब्दे' इत्यस्यात्मनेपदित्वात्। यद्वा सिञ्जनं सिञ्जः। घञर्थे कविधानम्। सर्वप्रातिपदिकेभ्य इत्येके। इत्याचारे क्विप्। तदन्तात् शतृप्रत्ययः॥ १६॥

भाव०—हे जलद! रक्ताशोकवकुलयोर्मध्ये स्फाटिकमयपीठा मणिजटिता काञ्चनमयी वासयष्टिर्वर्तते। सायंकाले मम कान्तया शिञ्जितवलयरम्यैस्तालैर्नर्तितो मयूरो यामध्यास्ते॥ १९॥

सौ०—हे मेघ! उन दोनों अशोक और वकुल वृक्षोंके मध्य भागमें, अनतिप्रौढ़ (हरे) बांसके समान हरी पन्नामणिकी बनी एक वेदी है जिसके ऊपरका भाग स्फटिक मणिका है तथा नीचेका पन्नेका, उसके ऊपर स्वर्णकी वासयष्टि (पक्षियोंके ठहरनेकी लकड़ी) है। मधुर तालियां कङ्कण ध्वनियोंको बजा-बजाकर मेरी भार्याद्वारा नचाया जानेवाला आपका सुहृद् मयूर (मोर) सायंकालमें उस यष्टिपर आकर बैठा करता है॥ १६॥

एभिः साधो! हृदयनिहितैर्लक्षणैर्लक्षयेथा
द्वारोपान्ते लिखितवपुषौ शङ्खपद्मौ च दृष्ट्वा।
क्षामच्छायं भवनमधुना मद्वियोगेन नूनं
सूर्यापाये न खलु कमलं पुष्यति स्वामभिख्याम्॥ १७॥

सञ्जी०—एभिरिति। साधो निपुण। 'साधुः समर्थो निपुणो वा' इति काशिकायाम्। हृदयनिहितैः अविस्मृतैरित्यर्थः। एभिः पूर्वोक्तैर्लक्षणैस्तोरणादिभिरभिज्ञानैर्द्वारोपान्ते। एकवचनमविवक्षितम्। द्वारपार्श्वयोरित्यर्थः। लिखिते वपुषी आकृती ययोस्तौ तथोक्तौ शङ्खपद्मौ नाम निधिविशेषौ। 'निधिर्ना शेवधिर्भेदाः पद्मशङ्खादयो निधेः' इत्यमरः। दृष्ट्वा च नूनं सत्यमधुनेदानीम्। 'अधुना' इति निपातः। मद्वियोगेन मम प्रवासेन क्षामच्छायं मन्दच्छायमुत्सवोपरमात्क्षीणकान्ति भवनं मद्गृहं लक्षयेथा निश्चिनुयाः, तथाहि, सूर्यापाये सति कमलं पद्मं स्वामात्मीयामभिख्यां शोभाम् 'अभिख्या नामशोभयोः' इत्यमरः। न पुष्यति नोपचिनोति खलु। सूर्यविरहितं पद्ममिव पतिविरहितं गृहं न शोभत इत्यर्थः॥ १७॥

चारि०—स्वभवनकथनचिह्नमुपसंहरन्नाह—एभिरिति। हे साधो जलद! एभिः हृदयनिहितैः स्थापितैः पूर्वोक्तैर्लक्षणैर्द्वारस्योपान्ते निकटे लिखितवपुषौ चित्रसमर्पितदेहौ शङ्खपद्माख्यौ निधी दृष्ट्वा लक्षयेथाः पश्येः। साम्प्रतं स्वकीयं तद्भवनं स्मृत्वा सविषादमाह। अधुना मद्वियोगेन तद्भवनं क्षामच्छायं गतकान्ति नूनमुत्प्रेक्षायाम्। अहमेवमुत्प्रेक्षे इति भावः। स्वामभिख्यां न पुष्यति। खलु प्रसिद्धौ। किमिव सूर्यापायेऽपगमे सति कमलमिव। 'निधिर्ना शेवधिर्भेदाः पद्मशङ्खादयो निधेरि'त्यमरः॥ १७॥

भाव०—हे साधो! जलद! एभिः पूर्वोक्तैर्लक्षणैस्तथा मद्गृहद्वारोपान्ते चित्रितौ शङ्खपद्माख्यौ निधी दृष्ट्वा रविं विना पद्ममिव विनष्टशोभं मम वेश्म जानीयाः॥१७॥

सौ०—हे मेघ! इन पूर्वोक्त चिह्नों से चिह्नित तथा द्वारके दोनों ओर शङ्ख और पद्म नामक लिखित चित्रोंको देखकर, हे साधो! मेरे विरहके कारण उत्सवशून्य निष्प्रभ भवनको निश्चय ही आप पहचान लेंगे। जैसे सूर्यास्तके समय कमल अपनी शोभा नहीं धारण करता है, मुरझाया रहता है तद्वत् मेरा गृह भी मेरे वियोगसे कान्तिहीन होगा॥

निजगृहनिश्चयानन्तरं कृत्यमाह—

गत्वा सद्यः कलभतनुतां शीघ्रसम्पातहेतोः
क्रीडाशैले प्रथमकथिते रम्यसानौ निषण्णः।
अर्हस्यन्तर्भवनपतितां कर्तुमल्पाल्पभासं
खद्योतालीविलसितनिभां विद्युदुन्मेषदृष्टिम्॥ १८॥

सञ्जी०—गत्वेति। हे मेघ, शीघ्रसंपात एव हेतुस्तस्य, शीघ्रप्रवेशार्थमित्यर्थः। 'षष्ठी हेतुप्रयोगे' इति। 'सम्पातः पतने वेगे प्रवेशे वेदसंविदे' इति शब्दार्णवे। सद्यः सपदि कलभस्य करिपोतस्य तनुरिव 'तनुर्यस्य तस्य भावस्तामल्पशरीरतां गत्वा प्राप्य प्रथमकथिते 'तस्यास्तीरे' इत्यादिना पूर्वोद्दिष्टे रम्यसानौ। निषीदनयोग्य इत्यर्थः। क्रीडाशैले निषण्ण उपविष्टः सन्। अल्पाल्पा भाः प्रकाशो यस्यास्ताम्।

'प्रकारे गुणवचस्य' इति द्विरुक्तिः। खद्योतानामाली तस्या विलसितेन स्फुरितेन निभां समानां विद्युदुन्मेषः विद्युत्प्रकाशः स एव दृष्टिस्तां भवनस्यान्तः अन्तर्भवनं तत्र पतितां प्रविष्टां कर्तुमर्हसि, यथा कश्चित्किंचिदन्विष्यन् क्वचिदुन्नते स्थित्वा शनैः शनैरतितिरां द्राघीयसीं दृष्टिमिष्टदेशे पातयति तद्वदित्यर्थः ॥ १८ ॥

चारि०—गृहदर्शनानन्तरं किं कार्यमित्याह—गत्वेति—जलद ! शीघ्रं यथा स्यात्तथा सम्पातः सञ्चरणं तद्धेतोः कलभवत् तनुतां कृशतां सद्यो गत्वा प्राप्य प्रथमकथिते पूर्वोक्ते रत्नसानौ क्रीडाशैले निषण्ण उपविष्टः सन् विद्युत् उन्मेष उन्मीलनं स एव दृष्टिः प्रकाशत्वात् तामन्तर्भवनपतितां भवनमध्यपतितां कर्तुमर्हसि। कीदृशीमतिशयेन अल्पा अल्पाल्पा भा यस्यां सा ताम्। अत एव खद्योतानां ज्योतिरिङ्गणानाम् आल्या पङ्क्तेर्विलसितं स्फुरणमिव विभाति ताम्। अर्हसीति 'अर्ह पूजायाम्।' धातूनामनेकार्थत्वात्तत्र स्थितां मद्भार्यां द्रक्ष्यसीत्यर्थः। 'कलभस्त्रिशब्द' इत्यभिधानचिन्तामणिः ॥ १८ ॥

भाव०—हे जलद ! करिपोनतनुतुल्यां स्वां तनुं निर्माय तत्र पूर्वोक्ते क्रीडाशैले समुपविश्य मद्वेश्ममध्ये त्वमल्पाल्पप्रकाशां विद्युदुन्मेषरूपां दृष्टिं कर्त्तुं मर्हसि ॥१८॥

सौ०—हे मेघ ! मेरा कार्य शीघ्र सम्पादित करनेके लिये आप हाथी के कलभ (बच्चे) का वेष धारण करके, पूर्वोक्त क्रीडाशैलपर बैठकर खद्योत (जुगनू) के समान थोड़ो-थोड़ी चमकदार विद्युत्‌रूपी अपनी नेत्रदृष्टि मेरे गृह के अभ्यन्तर (अन्दर) फेंकियेगा। जैसे कोई व्यक्ति ऊंचे स्थानपर बैठकर धीरे-धीरे अपनी दृष्टि अभीष्ट स्थानपर फेंकता है। तद्वत् आप दृष्टिपात करें ॥ १८ ॥

संप्रति दृष्टिपातफलस्याभिज्ञानं श्लोकद्वयेनाह—

तन्वी श्यामा शिखरिदशना पक्वबिम्बाधरोष्ठी
मध्ये क्षामा चकितहरिणीप्रेक्षणा[1] निम्ननाभिः।
श्रोणीभारादलसगमना स्तोकनम्रा स्तनाभ्यां
या तत्र स्याद्युवतिविषये सृष्टिराद्येव धातुः ॥ १९ ॥

सञ्जी०—तन्वीति। तन्वी कृशाङ्गी, न तु पीवरी। 'श्लक्ष्णं दभ्रं कृशं तनु' इत्यमरः। 'वोतो गुणवचनात्' इति ङीप्। श्यामा युवतिः। 'श्यामा यौवनमध्यस्था' इत्युत्पलमालायाम्। शिखराण्येषां सन्तीति शिखरिणः कोटिमन्तः। 'शिखरं शैलवृक्षाग्रकक्षापुलककोटिषु' इति विश्वः। शिखरिणो दशना दन्ता यस्याः सा। एतेनास्या भाग्यवत्त्वं पत्यायुष्करत्वं च सूच्यते। तदुक्तं सामुद्रिके—'स्निग्धाः समानरूपाः सुपङ्क्तयः शिखरिणः श्लिष्टाः। दन्ता भवन्ति यासां तासां पादे जगत्सर्वम् ॥' 'ताम्बूलरसरक्तेऽपि स्फुटभासः समोदयाः। दन्ताः शिखरिणो यस्या दीर्घं जीवति

१. चकितहरिणीप्रेक्षिणीति पाठश्चारित्रवर्द्धिनीकारस्वीकृतः। इति सम्पादकः।

रतिप्रियः ॥' इति । पक्वं परिणतं बिम्बं बिम्बिकाफलमिवाधरोष्ठो यस्याः सा 'पक्वबिम्बाधरोष्ठी । 'शाकपार्थिवादित्वान्मध्यमपदलोपी समासः' इति वामनः । 'नासिकोदरौष्ठ–' इत्यादिना ङीष् । मध्ये क्षामा कृशोदरीत्यर्थः चकितहरिण्याः प्रेक्षणानीव प्रेक्षणानि दृष्टयो यस्याः सा तथोक्ता । एतेनास्याः पद्मिनीत्वं व्यज्यते । तदुक्तं रतिरहस्ये पद्मिनीलक्षणप्रस्तावे—'चकितमृगदृशाभे प्रान्तरक्ते च नेत्रे' इति । निम्ननाभिर्गम्भीरनाभिः । अनेन नारीणां नाभिगाम्भीर्यान्मदनातिरेक इति कामसूत्रार्थः सूच्यते । श्रोणीभारादलसगमना मन्दगामिनी, न तु जघनदोषात् । स्तनाभ्यां स्तोकनम्रेषदवनता, न तु वपुर्दोषात् । युवतय एव विषयस्तस्मिन्युवतिविषये । युवतीरधिकृत्येत्यर्थः । धातुर्ब्रह्मण आद्या सृष्टिः प्रथमशिल्पमिव स्थितेत्युत्प्रेक्षा । प्रथमनिर्मिता युवतिरियमेवेत्यर्थः । प्रायेण शिल्पिनां प्रथमनिर्माणे प्रयत्नातिशयवशाच्छिल्पनिर्माणसौष्ठवं दृश्यत इत्याद्यविशेषणम् । 'तथा चास्मिन्प्रपञ्चे न कुत्राप्येवंविधं रमणीयं रमणीरत्नमस्तीति भावः । तदेवंभूता या स्त्री यत्रान्तर्भवने स्यात् । तत्र निवसेदित्यर्थः । तामित्युत्तरश्लोकेन सम्बन्धः ॥ १९ ॥

चारि०—श्लोकद्वयेन स्वकीयप्रेयस्या लक्षणं दर्शयति—तन्वीति—तत्रालये तन्वी कृशतनुः श्यामा यौवनमध्यस्था हरितवर्णा वा षोडशवार्षिकी । 'श्यामा यौवनमध्यस्थे'ति वाक्यात् । शिखराणि दाडिमबीजानीव दशना यस्याः सा । शिखरिणः कोटिमन्तो दशना दन्ता यस्या इति वा । शिखरं वज्रं तद्वदुज्ज्वलदर्शनेति वा । 'पक्वदाडिमबीजाभं माणिक्यं शिखरं विदु'रित्यभिधानचिन्तामणिः । पक्वबिम्बवदधरोष्ठो यस्याः सा । मध्ये मध्यदेशे क्षामा कृशोदरी । चकिता त्रस्ता या हरिणी तद्वत्प्रेक्षत इति प्रेक्षिणी । निम्ना नाभिर्यस्याः सा । श्रोणीभारादलसं गमनं यस्याः सा । स्तनाभ्यां स्तोकं स्वल्पं नम्रा । युवतिविषये धातुर्ब्रह्मणः आद्या सृष्टिः प्रथमसर्ग इव स्थिता । मध्ये क्षामेति 'अमूर्द्धमस्तका' दित्यलुक् । प्रेक्षिणीति कर्त्तर्युपमान इति णिनिः एवंविधा या स्त्री स्यात् यदि तिष्ठति तां जानीथा इत्युत्तरत्र सम्बन्धः । स्यादिति आख्यातप्रतिरूपकमव्ययम् । यदर्थेऽव्ययम् ॥ १९ ॥

भाव०—हे जलद ! तत्र मद्भवने कृशाङ्गी यौवनमध्यस्था दाडिमबीजदशना, पक्वबिम्बाधरोष्ठी कृशोदरी चकितहरिणीप्रेक्षणा गम्भीरनाभिर्मन्दगामिनी स्तनभारेषदवनता सर्वाङ्गसुन्दरी युवतिविषये स्रष्टुराद्या सृष्टिरिव या रमणी वीक्ष्यते सैव मम प्रियेति जानीथाः ॥ १९ ॥

सौ०—हे मेघ ! उस भवनमें कृशांगी, कोटियुक्त (तिरछे) दन्तोंवाली, पके हुए कुन्दरू के फलके समान लाल अधरोष्ठवाली, पतली कमरवाली, चकित हरिणीके समान नेत्रोंवाली गम्भीर (गहरी) नाभिवाली, नितम्बके भारसे अलसाकर गमन करनेवाली, कुचों के भारसे कुछ झुकी हुई, मेरी भार्या है । ऐसा ज्ञात होता है कि, स्त्रियोंकी सृष्टि करनेके समय ब्रह्मदेवने प्रथम इसका नक्शा तैयार किया है, तब अन्य स्त्रियाँ रची हैं ॥ १९ ॥

तां जानीथाः परिमितकथां जीवितं मे द्वितीयं
दूरीभूते मयि सहचरे चक्रवाकीमिवैकाम्।
गाढोत्कण्ठां गुरुषु दिवसेष्वेषु गच्छत्सु बालां
जातां मन्ये [1]शिशिरमथितां पद्मिनीं वाऽन्यरूपाम् ॥ २० ॥

सञ्जी०—तामिति। सहचरे सहचारिणि अनेन वियोगासहिष्णुत्वं व्यज्यते। मयि दूरीभूते दूरस्थिते सहचरे चक्रवाके दूरीभूते सति चक्रवाकीं चक्रवाकवधूमिव। 'जातेरस्त्रीविषयादयोपधात्' इति ङीप्। परिमितकथां परिमितभाषिणीम्। एकाकिनीं स्थितां तामन्तर्भवनगतां मे द्वितीयं जीवितं जानीथाः। जीवित-तुल्यां मत्प्रेयसीमवगच्छेरित्यर्थः। 'तन्वी' इत्यादिपूर्वलक्षणैरिति शेषः। लक्षणा-नामन्यथाभावभ्रममाशङ्क्याह—गाढेति। गाढोत्कण्ठां प्रबलविरहवेदनाम् 'रागे त्व-लब्धविषये वेदना महती तु या। संशोषणी तु गात्राणां तामुत्कण्ठां विदुर्बुधाः।' इत्यभिधानात्। बालां गुरुषु विरहमहत्स्वेषु वर्तमानेषु दिवसेषु गच्छत्सु सत्सु शिशिरेण शिशिरकालेन मथितां पद्मिनीं वा पद्मिनीमिव। 'इववद्वायथाशब्दा' इति दण्डी। अन्यरूपां पूर्वविपरीताकारां जातां मन्ये। हिमहतपद्मिनीव विरहेणान्या-दृशी जातेति तर्कयामीत्यर्थः। एतावता नेयमन्येति भ्रमितव्यमिति भावः ॥ २० ॥

चारि०—तामिति। भो जलद! तां मत्प्रियां मे द्वितीयं जीवितं जानीथाः। कीदृशीं परिमिता स्वल्पा कथा भाषणं यस्याः सा ताम्। तथा दूरीभूते दूरस्थे मयि सहचरे, चक्रवाके दूरस्थे चक्रवाकीमिवैकाम्। पूर्वोक्तानां लक्षणानामन्यथाभावमा-शङ्क्य व्याचष्टे। गाढोत्कण्ठां गुरुषु दुःसहेषु एषु दिवसेषु गच्छत्सु बालां तुहिनेन हिमेन मथितां पद्मिनीमिवान्यथारूपां जातां मन्ये। वा शब्द इवार्थे ॥ २० ॥

भाव०—हे जलद! प्रियतमविप्रयुक्तां चक्रवाकीमिव शिशिरमथितां पद्मिनी-मिव वा मयि सहचरे दूरीभूते सति पूर्वविपरीताकारां तां बालामहं तर्कयामि ॥२०॥

सौ०—हे मेघ! वह मेरी प्रिया, अपने सहचरके दूर होनेसे (मेरे दूर होनेसे) चक्रवाकीके समान अल्पभाषिणी होगी। उसे मेरा दूसरा प्राण ही आप जानें। अति वेगवती उत्कंठासे इन वियोगके दिवसोंको व्यतीत करनेवाली वह बाला सुन्दरी शिशिरकालसे पीड़ित कमलिनीके सदृश अन्य रूपको धारण कर रही होगी। जो रूप मेरे सामने था उससे भिन्न रूपको धारण किए होगी ॥ २० ॥

नूनं तस्याः प्रबलरुदितोच्छूननेत्रं प्रियाया
निःश्वासानामशिशिरतया भिन्नवर्णाधरोष्ठम्।
हस्तन्यस्तं मुखमसकलव्यक्ति लम्बालकत्वा-
दिन्दोर्दैन्यं त्वदनुसरणक्लिष्टकान्तेर्बिभर्ति ॥ २१ ॥

---

[1] तुहिनमथितामिति पाठश्चारित्रवर्द्धिनीकारसंमतः। इति संपादकः।

सञ्जी०—नूनमिति। प्रबलरुदितेनोच्छूने उच्छ्वसिते नेत्रे यस्य तत्। उच्छूनेति श्वयतेः कर्तरि क्तः। 'ओदितश्च' इति निष्ठानत्वम्। 'वचिस्वपि—' इत्यादिना संप्रसारणम्। 'संप्रसारणाच्च' इति पूर्वरूपत्वम्। 'हलः' इति दीर्घः। 'च्छ्वोः शूडनुनासिके च' इत्यूठादेशे कृते रूपसिद्धिरिति वर्तमानसामीप्यप्रक्रिया प्रामादिकीत्युपेक्षया तथा सति धातोरिकारस्य गत्यभावादूठादेशे च्छ्वोरन्त्यत्वेन विशेषाच्चेति। एतेन विषादो व्यज्यते। निःश्वासानामशिशिरतयाऽन्तस्तापोष्णत्वेन भिन्नवर्णो विच्छायोऽधरोष्ठो यस्य तत्। हस्ते न्यस्तं हस्तन्यस्तम्। एतेन चिन्ता व्यज्यते। लम्बालकत्वात्संस्काराभावाल्लम्बमानकुन्तलत्वादसकलव्यक्त्यसंपूर्णाभिव्यक्ति तस्याः प्रियाया मुखं त्वदनुसरणेन त्वदुपरोधेन। मेघानुसरणेतेति यावत्। क्लिष्टकान्तिः क्षीणकान्तेरिन्दो दैन्यं शोच्यतां बिभर्ति। नूनमिति वितर्के। 'नूनं तर्केऽर्थनिश्चय' इत्यमरः। पूर्ववत्तथापि न भ्रमितव्यमिति भावः॥ २१॥

चारि०—समस्तानामङ्गानां मुख्यभूतस्याननस्यान्यरूपमाह-नूनमिति। भो मेघ नूनमिति वितर्के। तस्या मद्वल्लभायाः मुखं कर्तृ तवानुसरणमनुगमनं तेन क्लिष्टा कान्तिर्दीप्तिर्यस्य तस्येन्दोर्दैन्यं दीनभावं बिभर्ति धारयति। कीदृशं प्रबलमविच्छिन्नं यद्रुदितं रोदनं तेनोच्छूने शोफसहिते नेत्रे यस्य तत्। तथा निःश्वासानामशिशिरतयोष्णतया भिन्नवर्णो गतलावण्योऽधर ओष्ठो यस्य तत्। हस्ते वामकरे न्यस्तं स्थापितं दुःखितस्य स्त्रीजनस्य स्वभावः संस्काराभावात् लम्बा अलका ललाटावलम्बिनः कुटिलाः केशा यस्याः तस्या भावस्तथा तस्मात् असकला असम्पूर्णा व्यक्तिराकारो यस्य तत्॥ २१॥

भाव०—हे जलद! इदानीं, मद्वियोगेन प्रियाया अतिरुदितोच्छ्रसितनेत्रमुष्णनिश्वासवशाद् विवर्णाधरोष्ठं हस्तन्यस्तं मुखं त्वदावरणात्क्षीणकान्तेश्चन्द्रमसो दीनदशां धारयतीति तर्कयामि॥ २१॥

सौ०—हे मेघ! मेरे विरहके कारण विलापमें उनके नयन फूल गये होंगे। तप्त–तप्त साँसोंके आनेसे उस बालाके ओष्ठ भिन्नवर्ण हो गये होंगे। चिन्तावस्थाके कारण हथेलीके ऊपर धरा हुआ उसका मुख, जिसपर उसके बालोंकी लटें बिखरती हुई होंगी। ठीक उसी तरह दीखेगा जिस तरह आप (मेघों) के द्वारा घेर लेनेसे चन्द्रकी दीन दशा दिखायी पड़ती है॥ २१॥

सर्वविरहिणीसाधारणानि लक्षणानि संभावनयोत्प्रेक्षणीयान्याह–'आलोके' इत्यादिभिस्त्रिभिः—

आलोके ते निपतति पुरा सा बलिव्याकुला वा
मत्सादृश्यं विरहतनु वा भावगम्यं लिखन्ती।
पृच्छन्ती वा मधुरवचनां सारिकां पञ्जरस्थां
कच्चिद्भर्तुः स्मरसि रसिके त्वं हि तस्य प्रियेति॥ २२॥

सञ्जी०—आलोक इति। हे मेघ ! सा मत्प्रिया बलिषु नित्येषु प्रोषितागमनार्थेषु च देवताराधनेषु व्याकुला व्यापृता वा विरहेण तनु कृशं भावगम्यम्। तत्कार्श्यस्याऽदृष्टचरत्वात्संप्रति संभावनयोत्प्रेक्ष्यमित्यर्थः। मत्सादृश्यं मदाकारसाम्यम्। यद्यपि सादृश्यं नाम प्रसिद्धवस्त्वन्तरगतमाकारसाम्यं तथापि प्रतिकृतित्वेन विवक्षितमितरथालेख्यत्वासंभवात्। अव्ययकोशे 'आलेख्येऽपि च सादृश्यम्' इत्यभिधानाच्च। लिखन्ती क्वचित्फलकादौ विन्यस्यन्ती वा चित्रदर्शनस्य विरहिणीविनोदोपायत्वादिति भावः। एतच्च कामशास्त्रसंवादेन सम्यग्विवेचितमस्माभी रघुवंशसंजीविन्याम् 'सादृश्यप्रतिकृतिदर्शनैः प्रियायाः' इत्यत्र। मधुरवचनां मञ्जुभाषिणीम्। अत एव पञ्जरस्थाम्। हिंस्रेभ्यः कृतसंरक्षणामित्यर्थः। सारिकां स्त्रीपक्षिविशेषाम्। हे रसिके! भर्तुः स्वामिनः स्मरसि कच्चित्। 'कच्चित्कामप्रवेदने' इत्यमरः। भर्तारं स्मरसि किमित्यर्थः। 'अधीगर्थदयेशां कर्मणि' इति कर्मणि षष्ठी। स्मरणे कारणमाह—हि यस्मात्कारणात् त्वं तस्य भर्तुः। प्रीणातीति प्रिया। 'इगुपधज्ञाप्रीकिरः कः' इति कप्रत्ययः। अतः प्रेमास्पदत्वात्स्मर्तुमर्हसीति भावः। इत्येवं पृच्छन्ती वा। वाशब्दो विकल्पे। 'उपमायां विकल्पे वा' इत्यमरः। ते तवालोके दृष्टिपथे पुरा निपतति। सद्यो निपतिष्यतीत्यर्थः 'स्यात्प्रबन्धे पुरातीते निकटागामिके पुरा' इत्यमरः। 'यावत्पुरानिपातयोर्लट्' इति लट् ॥ २२ ॥

चारि०—क्षणान्तरस्तां ज्ञापयति—आलोक इति। भो जलद सा स्त्री ते तवाऽऽलोके दर्शने सति पुरा निपतति। त्वां विलोक्य सा भुवि पतिष्यतीत्यर्थः। 'यावत्पुरानिपातयोर्लडि'ति भविष्यदर्थे लट्। कीदृशी मदागमनाय देवताभ्यो यद्बलिदानं नैवेद्यवितरणं तेन व्याकुला वा। तथा मत्सादृश्यं मद्विषयमालेख्यं लिखन्ती वा। कीदृशं विरहेण वियोगेन योऽसौ तनुताया दुर्बलस्य भावश्चित्तं तेन गम्यं विरहात्तादृशस्य साम्प्रतमन्यथात्वमिति। उत्प्रेक्षया गम्यमिति भावः। हे रसिके हे कृपारसोपस्कृतमानसे त्वं कच्चिद्भर्तुः स्मरसि। त्वं तस्य मद्वल्लभस्य प्रियेति मधुरवचनां मनोरमवाक्यां पञ्जरस्थां सारिकां पृच्छन्ती वा। भर्तुरिति अधीगर्थे कर्मणि षष्ठी। 'आलोको दर्शनद्योता'वित्यमरः। 'कच्चिदिष्टप्रियप्रश्न' इत्यभिधानचिन्तामणिः। 'आलेख्येऽपि च सादृश्यमि'ति यादवः। पञ्जरः पक्षिरक्षाकरः पदार्थः ॥ २२ ॥

भाव०—हे जलद ! सा मत्प्रिया देवताराधनव्यापृता वा, मदाकारसाम्यं लिखन्ती वा सारिकां 'त्वं तस्य हि प्रियेति कच्चिन्मत्प्रियस्मृतिं करोषी'ति पृच्छन्ती वा ते दृक्पथं गमिष्यति ॥ २२ ॥

सौ०—हे मेघ ! वह मेरी बाला भार्या मेरे साथ सम्मिलनकी प्रतीक्षामें निम्नाङ्कित अवस्थाओंमें लीन होगी-वह या तो देवताओंकी पूजामें लीन होगी। अथवा वियोगसे कृश होनेवाले मेरे शरीरका अनुमान करके चित्र खींचनेमें व्यस्त होगी। वा मधुर कूजन

करनेवाली और पिंजड़ेमें रहनेवाली सारिका (मैना) से पूछती होगी कि रसिके ! क्या तुम अपने स्वामीका भी स्मरण करती हो ? क्योंकि तुम उन्हें प्यारी थी। इन उपर्युक्त अवस्थाओंमें आप मेरी स्त्रीको देखेंगे ॥ २२ ॥

उत्सङ्गे वा मलिनवसने सौम्य ! निक्षिप्य वीणां
मद्गोत्राङ्कं विरचितपदं गेयमुद्गातुकामा।
तन्त्रीमार्द्रां नयनसलिलैः सारयित्वा कथंचिद्
भूयो भूयः स्वयमपि कृतां मूर्च्छनां विस्मरन्ती ॥ २३ ॥

सञ्जी०—उत्सङ्ग इति। हे सौम्य ! साधो ! मलिनवसने। 'प्रोषिते मलिना कृशा' इति शास्त्रादित्यर्थः। उत्सङ्गे क्रोडे वीणां निक्षिप्य। मम गोत्रं नामाङ्कश्चिह्नं यस्मिंस्तन्मद्गोत्राङ्कं मन्नामाङ्कं यथा तथा। 'गोत्रं नाम्नि कुलेऽपि च' इत्यमरः। न विरिचतानि पदानि यस्य तत्तथोक्तं गेयं गानार्हं प्रबन्धादि। 'गीतम्' इति पाठे स एवार्थः। उद्गातुमुच्चैर्गातुं कामो यस्याः सा। 'तुं काममनसोरपि' इति मकारलोपः। देवयोनित्वाद् गान्धारग्रामं गातुकामेत्यर्थः। तदुक्तम्—'षड्जमध्यमनामानौ ग्रामौ गायन्ति मानवाः। न तु गान्धारनामानं स लभ्यो देवयोनिभिः।' इति, तथा नयनसलिलैः प्रियतमस्मृतिजनितैरश्रुभिरार्द्रां तन्त्रीं कथंचित्कृच्छ्रेण सारयित्वा। आर्द्रत्वापहरणाय करेण प्रमृज्यान्यथा क्वणनासंभवादिति भावः। भूयो भूयः पुनः पुनः स्वयमात्मना कृतामपि। विस्मरणानर्हामपीत्यर्थः। मूर्च्छनां स्वरारोहावरोहक्रमम्। 'स्वराणां स्थापनाः सान्ता मूर्च्छनाः सप्त सप्त हि' इति संगीतरत्नाकरे। विस्मरन्ती वा। 'आलोके ते निपतति' इति पूर्वेणान्वयः। विस्मरणं चात्र दयितगुणस्मृतिजनितमूर्च्छावशादेव। तथा च रसरत्नाकरे—'वियोगयोगयोरिष्टगुणानां कीर्तनात्स्मृतेः। साक्षात्कारोऽथवा मूर्च्छा दशधा जायते तथा।' इति। मत्सादृश्यमित्यादिना मनःसङ्गानुवृत्तिः सूचिता ॥ २३ ॥

चारि०—उत्सङ्ग इति। सोम इव सुन्दरः सौम्यस्तत्सम्बुद्धिः हे सौम्य मेघ मलिनं वसनं वस्त्रं यस्य स तस्मिन्। एतेन पातिव्रत्यं ज्ञापितम्। उत्सङ्गे वीणां निक्षिप्य नयनसलिलैर्नेत्राम्बुभिरार्द्रां तन्त्रीं सारयित्वा। पाणिना संस्पृश्य मम गोत्रं नाम अङ्कश्चिह्नं यस्य तत्। गेयं गीतमुद्गातुं कामो यस्याः सा सती भूयो भूयः कंचित्स्वयमधिकृतामात्मप्रस्तुतां मूर्च्छनां सप्तस्वरक्रमस्थापनां विस्मरन्ती वा ते आलोके पुरा निपतति। कीदृशं विरचितानि आरोहावरोहिस्वरक्रमेण विनिवेशितानि स्थापितानि पदानि यत्र तत्। 'क्रमयुक्ताः स्वराः सप्त मूर्च्छनाः परिकीर्तिताः' ॥२३॥

भाव०—हे जलद ! अपि च सा मत्प्रिया निजाङ्के वीणां संस्थाप्य मन्नामाङ्कं गीतं गातुकामा तत्कालनिपतितैर्नेत्रजलैरार्द्रां वीणां कथंचित् करेण प्रमृज्य स्वयमपि पूर्वं कृतामपि मूर्च्छनां पुनः पुनर्विस्मरन्ती वा ते दृक्पथं गमिष्यति ॥ २३ ॥

सौ०—हे सौम्य ! वह मलिनवस्त्रधारिणी अपनी गोदमें वीणाको धरकर, मेरे नामके पदवाले गाने ऊँचे स्वरमें गानेकी अभिलाषा करती होगी किन्तु मेरे स्मरणसे उत्पन्न अश्रुओंसे आर्द्र वीणा न बजनेके कारणसे उस वीणाको किसी प्रकार से पोंछकर पुनः-पुनः स्वयमेव रची हुई मूर्च्छनाको (स्वरके आरोह-अवरोह क्रमोंको) विस्मरण करती हुई आप देखेंगे ॥ २३ ॥

शेषान्मासान्विरहदिवसस्थापितस्यावधेर्वा
विन्यस्यन्ती भुवि गणनया देहलीदत्तपुष्पैः ।
मत्सङ्गं वा हृदयनिहितारम्भमास्वादयन्ती
प्रायेणैते रमणविरहेष्वङ्गनानां विनोदाः ॥ २४ ॥

सञ्जी०—शेषानिति । अथवा विरहस्य दिवसस्तस्मात्स्थापितस्य तत आरभ्य निश्चितस्यावधेरन्तस्य शेषान्गतावशिष्टान्मासान्देहलीदत्तपुष्पैः । देहली द्वारस्याधारदारु । 'गृहावग्रहणी देहली' इत्यमरः । तत्र दत्तानि राशीकृतत्वेन निहितानि यानि पुष्पाणि तैर्गणनया एको द्वावित्यादिसंख्यानेन भूतले विन्यस्यन्ती वा । पुष्पविन्यासैर्मासान्गणयन्ती वेत्यर्थः । यद्वा हृदये निहितो मनसि संकल्पित आरम्भ उपक्रमो यस्य तम् । अथवा हृदयनिहिता आरम्भाश्चुम्बनादयो व्यापारा यस्मिंस्तं मत्सङ्गं मत्संभोगरतिमास्वादयन्ती वा । 'आलोके ते निपतति' इति पूर्वेण सम्बन्धः । ननु कथमयं निश्चय इत्याशङ्कामर्थान्तरन्यासेन परिहरति । प्रायेण बहुल्येनाङ्गनानां रमणविरहेष्वेते पूर्वोक्ता विनोदाः कालयापनोपायाः । एतेन संकल्पावस्थोक्ता । तदुक्तम्–'संकल्पो नाथविषये मनोरथ उदाहृतः' इति । त्रिभिः कुलकम् ॥ २४ ॥

चारि०—शेषानिति । भुवि देहल्यां पूजार्थं मुक्तैर्विश्राणितैः पुष्पैः प्रियस्य गमनदिवसे स्थापितस्यावधेः कालनियमस्य शेषान् मासान् गणनया एकद्वित्रिचतुःपञ्चक्रमसङ्ख्यया विन्यस्यन्ती स्थापयन्ती ते तव आलोके निपतति पुरा ! हृदये निहित आरम्भो यस्य तं मया सह सम्भोगमास्वादयन्ती अनुभवन्ती वा ते आलोके सति पुरा निपतति । प्रायेण एते उक्तप्रकाराः रमणविरहेषु अङ्गनानां विनोदाः कालयापकाः 'गृहावग्रहणी देहल्यङ्गणं चत्वराजिरम्' इत्यमरः ॥ २४ ॥

भाव०—हे जलद ! विरहदिवसादारभ्य निश्चितस्यावधेरवशिष्टान् मासान् देहल्यां पुष्पाणि संस्थाप्य गणनां विदधती, भावनया मत्सम्भोगरसमास्वादयन्ती वा मत्प्रिया ते दृक्पथं गमिष्यति, यतः प्रायशः प्रियविरहेषु कामिनीनामेते विनोदा भवन्ति ॥ २४ ॥

सौ०—हे मेघ ! पति-वियोगके अवशिष्ट दिवसोंकी गणनामें, देहलीपर रखे पुष्पोंको पृथिवी पर संस्थापित करनेमें संलग्ना होगी । अथवा हृदयसे पतिके सम्भोगसुखोंका

अनुभव कर रही होगी। क्योंकि, प्रायः पतिविरहिणी स्त्रियोंके येही सब विनोदके साधन हैं ॥ २४ ॥

सव्यापारामहनि न तथा पीडयेन्मद्वियोगः
शङ्के रात्रौ गुरुतरशुचं निर्विनोदां सखीं ते।
मत्सन्देशैः सुखयितुमलं पश्य साध्वीं निशीथे
तामुन्निद्रामवनिशयनां सौधवातायनस्थः ॥ २५ ॥

सञ्जी०—सव्यापारामिति। हे सखे, अहनि दिवसे सव्यापारां पूर्वोक्तबलिचित्र-लेखनादिव्यापारवर्ती ते सखीं स्वप्रियां मद्वियोगो मद्विरहस्तथा तेन प्रकारेण। 'प्रकारवचने थाल्' इति थाल्प्रत्ययः। न पीडयेत्। यथा रात्राविति शेषः। किन्तु रात्रौ निर्विनोदां निर्व्यापारां ते सखीं गुरुतरा शुग्यस्यास्तां गुरुतरशुचमतिदुर्भर-दुःखां शङ्के तर्कयामि। 'शङ्का वितर्कभययोः' इति शब्दार्णवे। अतो निशीथेऽर्धरात्रौ उन्निद्रामुत्सृष्टनिद्राम्। अवनिरेव शयनं शय्या यस्यास्ताम्। नियमार्थं स्थण्डिल-शायिनीम्। साध्वीं पतिव्रताम्। 'साध्वी पतिव्रता' इत्यमरः। अतो नान्यथा शङ्कितव्यमिति भावः। तां त्वत्सखीं मत्संदेशैर्मद्वार्ताभिरलं पर्याप्तं सुखयितुमानन्दयितुं सौधवातायनस्थः सन्पश्य। 'सखी धात्री च पितरौ मित्रदूतशुकादयः। सुखमन्ती-ष्टकथनसुखोपायैर्वियोगिनी।' इति रत्नाकरे। दूतश्चायं मेघ इति भावः। अनेन जागरावस्थोक्ता ॥ २५ ॥

चारि०—तस्य विलोकनान्तरं निशि भाषणं कर्तव्यमित्याह—सव्यापारा मिति। मद्वियोगोऽहनि सव्यापारां ते सखीं मद्वल्लभां तथा न पीडयेत्। यथा रात्रौ गुरुतरशुचं गरिष्ठशोकां निर्विनोदां पीडयति। इत्यहं शङ्के। अतो भो मेघ निशी-थेऽर्द्धरात्रे सौधवातायनस्थः सन्। उन्निद्रामवनिशयानां तां साध्वीं मत्सन्देशैः अलं सुखयितुं पश्य। 'अर्द्धरात्रनिशीथौ द्वावि'त्यमरः। साध्वीमिति रात्रावपि सम्भाषणे हेतुः ॥ २५ ॥

भाव०—हे जलद ! अह्नि पूर्वोक्तबलिचित्रलेखनादिव्यापारव्यापृतां मत्प्रियां मद्वियोगस्तथा न पीडयेद् यथा निशि। अतस्त्वं निद्रारहितां भूशायिनीं तां पति-व्रतामर्द्धरात्रे मत्संदेशैः सुखय ॥ २५ ॥

सौ०—हे मेघ ! मेरी प्रियाको, मेरा विरह दिनमें तो कार्यमें लगे रहनेसे उतना कष्टदायक न होगा जितना कष्टदायक रातमें होगा। क्योंकि रातमें वह किसी कार्यमें न लगी होगी। अतः अधिक कष्टप्रद होगा। इस हेतु से हे सखे! आप आधी रातमें बँगलेकी खिड़कीमें बैठकर मेरे सन्देशके द्वारा सुख देनेके लिये, भूमिके ऊपर शयन करने-वाली जागती हुई मेरी प्रिया को देखें ॥ २५ ॥

पुनस्तामेव विशिनष्टि 'आधिक्षामाम्' इत्यादिभिश्चतुर्भिः—

आधिक्षामां विरहशयने सन्निषण्णैकपार्श्वां
प्राचीमूले तनुमिव कलामात्रशेषां हिमांशोः ।
नीता रात्रिः क्षण इव मया सार्धमिच्छारतैर्या
तामेवोष्णैर्विरहमहतीमश्रुभिर्यापयन्तीम् ॥ २६ ॥

सञ्जी०—आधिक्षामामिति । आधिना मनोव्यथया । क्षामां कृशाम् । 'पुंस्याधिर्मानसी व्यथा' इत्यमरः । क्षायतेः । कर्तरि क्तः । 'क्षायो मः' इति निष्ठातकारस्य मकारः । विरहे शयनं तस्मिन्विरहशयने । पल्लवादिरचित इत्यर्थः । सन्निषण्णमेकं पार्श्वं यस्यास्ताम् । अत एव प्राच्याः पूर्वस्या दिशो मूले उदयगिरिप्रान्त इत्यर्थः । प्राचीग्रहणं क्षीणावस्थाद्योतनार्थम् । मूलग्रहणं दृश्यतार्थम् । कलामात्रं कलैव शेषो यस्यास्तां हिमांशोस्तनुं मूर्तिमिव स्थिताम् । तथा या रात्रिर्मया सार्धमिच्छया कृतानि रतानि तैः । शाकपार्थिवादित्वान्मध्यमपदलोपी समासः । क्षण इव नीता यापिता तां तज्जातीयामेव रात्रिं विरहेण महतीं महत्त्वेन प्रतीयमानामुष्णैरश्रुभिर्यापयन्तीम् । यातेर्ण्यन्ताच्छतृप्रत्ययः । 'अर्तिह्री'—इत्यादिना पुगागमः । स एव कालः सुखिनामल्पः प्रतीयते । दुःखिनां तु विपरीत इति भावः । एतेन कार्श्यावस्थोक्ता ॥ २६ ॥

चारि०—आधिक्षामामिति । आधिर्मानसी व्यथा तेन क्षामां क्षीणां विरहशयने सन्निषण्णमेकं वामदक्षिणयोरन्यत्पार्श्वं यस्याः सा तां प्राच्याः पूर्वस्या दिशो मूले मुखे हिमांशोः कलैव कलामात्रं शेषो यस्याः ताम् । तनुं मूर्तिमिव स्थिताम् । या रात्रिर्मया सार्द्धमिच्छया कृतैः रतैः क्षणमिव नीता तां रात्रिमेव उष्णैर्विरहजनितरश्रुभिर्बाष्पैर्यापयन्तीं वाहयन्तीम् ॥ २६ ॥

भाव०—हे जलद ! मनोव्यथया क्षीणां विरहशयने एकपार्श्वेन कृतशयनां सुरतरात्रिस्मरणं विदधतीमश्रूणि स्रावयन्तीं मत्प्रियां सन्देशैः सुखितां कुरु ॥ २६ ॥

सौ०—हे मेघ ! मनोव्यथासे कृश, वियोगकालकी शय्यापर एक ही तरफ (एक करवटसे) सोनेवाली मेरी बालाको आप, उदयाचलके शिखरपर चन्द्रकी कलामात्र अवशिष्ट क्षीण शरीरवाली देखेंगे । जिन रातोंको वह प्रिया मेरे साथ इच्छानुसार रतिसुखोंके द्वारा मुहूर्त्तके समान व्यतीत करती थी । मेरे वियोगमें उन्हीं बड़ी रातोंको वह बड़ी कठिनतासे बिताती होगी इन्हीं उपर्युक्त दशामें आप मेरी भार्याको देखेंगे ॥ २६ ॥

पादानिन्दोरमृतशिशिराञ्जालमार्गप्रविष्टान्
पूर्वप्रीत्या गतमभिमुखं संनिवृत्तं तथैव ।
चक्षुः खेदात्सलिलगुरुभिः पक्ष्मभिश्छादयन्तीं
साभ्रेऽह्नीव स्थलकमलिनीं न प्रबुद्धां न सुप्ताम् ॥ २७ ॥

सञ्जी०—पादानिति। जालमार्गप्रविष्टान् गवाक्षविवरगतानमृतशिशिरानिन्दोः पादान्रश्मीन्पूर्वप्रीत्या पूर्वस्नेहेन। पूर्ववदानन्दकरा भविष्यन्तीति बुद्धयेति भावः। अभिमुखं यथा तथा गतं तथैव सन्निवृत्तं यथागतं तथैव प्रतिनिवृत्तम्। तदा तेषामतीव दुःसहत्वादिति भावः। चक्षुर्दृष्टिं खेदात्सलिलगुरुभिरश्रुदुर्भरैः पक्ष्मभिश्छादयन्तीम्। अत एव साभ्रे दुर्दिनेऽह्नि दिवसे न प्रबुद्धां मेघावरणादविकसितां न सुप्तामहरित्यमुकुलिताम्। उभयत्रापि नञर्थस्य नशब्दस्य सुप्सुपेति समासः। स्थलकमलिनीमिव स्थिताम्। एतेन विषयद्वेषाख्या षष्ठी दशा सूचिता॥ २७॥

चारि०—पादानिति। जालानां गवाक्षाणां मार्गेण प्रविष्टान् अमृतेन शिशिरान् इन्दोः पादान् किरणान् पूर्वप्रीत्याभिमुखं गतं खेदात्तथैव यथाऽऽगतं किरणेभ्यः सन्निवृत्तं चक्षुः सलिलेन गुरुभिः पक्ष्मभिः छादयन्तीम्। साभ्रे नीरदाभियुक्तेऽह्नि दिवसे स्थलकमलिनीमिव। न प्रबुद्धां न सुप्तां तां सुखयितुं पश्येति सम्बन्धः॥२७॥

भाव०—हे जलद! गवाक्षमार्गेणागतेषु चन्द्ररश्मिषु प्राक्तनसंस्कारवशात्तत्र प्राप्तां दृष्टिं सत्वरमेव निवर्त्तयन्तीं भृशं रोदनं विदधतीं मेघच्छन्ने दिवसे स्थलकमलिनीमिव। न प्रबुद्धां न प्रसुप्तां मत्प्रियां सन्देशैः सुखितां विधेहि॥ २७॥

सौ०—हे मेघ! मेघोंसे आच्छादित दिनमें जैसे स्थलकमलिनी न प्रफुल्लित रहती है, न मुकुलित ही रहती है। वैसे ही न सोती हुई न जागती हुई मेरी प्रियाको देखेंगे। वह मेरी प्रिया यह सोचकर कि, खिड़कियोंसे प्रविष्ट चन्द्रकी किरणें, मुझे पूर्वकी भाँति प्रसन्न करेंगी। उन किरणोंके प्रति अभिमुखी होगी किन्तु, वह चन्द्रकिरणोंका सेवन करते ही, वियोगावस्थाके कारण उन्हें असह्य मानकर अपनी आँखें हटा लेगी। पुनः अश्रुभरे नयनोंको मूंदती हुई वह स्थलकमलिनीके सदृश दीखेगी॥ २७॥

निःश्वासेनाधरकिसलयक्लेशिना विक्षिपन्तीं
शुद्धस्नानात्परुषमलकं नूनमागण्डलम्बम्।
मत्संभोगः कथमुपनयेत्स्वप्नजोऽपीति निद्रा-
माकाङ्क्षन्तीं नयनसलिलोत्पीडरुद्धावकाशाम्॥ २८॥

सञ्जी०—निःश्वासेति। शुद्धस्नानात्तैलादिरहितस्नानात्परुषं कठिनस्पर्शं नूनमागण्डलम्बम्। सुप्सुपेति समासः। अलकं चूर्णकुन्तलान्। जातावेकवचनम्। अधरकिसलयं क्लेशयति क्लिश्नातीति वा तेन तथोक्तेन। उष्णेनेत्यर्थः। क्लिश्यतेर्ण्यन्तात् क्लिश्नातेरण्यन्ताद्वा ताच्छील्ये णिनिः। निःश्वासेन विक्षिपन्तीं चालयन्तीम्। तथा स्वप्नजोऽपि स्वप्नावस्थाजन्योऽपिसाक्षात्संभोगासम्भवादिति भावः। मत्संभोगः कथं केनापि प्रकारेणोपनयेदागच्छेत्। इत्याशयेनेति शेषः। इतिनैवोक्तार्थत्वादप्रयोगः। 'प्रयोगे चापौनरुक्त्यम्' इत्यालङ्कारिकाः। प्रार्थनायां लिङ्।

नयनसलिलोत्पीडेनाश्रुप्रवृत्त्या रुद्धावकाशामाक्रान्तस्थानाम्। दुर्लभामित्यर्थः। निद्रामाकाङ्क्षन्तीम्। स्वप्नहेतुत्वादिति भावः। अत्राश्रुविसर्जनेन लज्जात्यागो व्यज्यते ॥ २८ ॥

चारि०—निःश्वासेनेति। अलकं नूनं निःश्वासेन विक्षिपन्तीं तां सुखयितुं पश्येति सम्बन्धः। अधरकिसलयं क्लिश्नाति। उष्णत्वात्। कीदृशमलकम्। शुद्धस्नानात्परुषं कर्कशम्। तथा आगण्डं कपोलस्थलपर्यन्तं लम्बते तत्। स्वप्नजोऽपि मत्संयोगः कथमपि भवेदिति हेतोः निद्रामाकाङ्क्षन्तीम्। कीदृशीं निद्रां नयनसलिलस्योत्पीडः पूरस्तेन रुद्धोऽवकाशो यस्यास्ताम् ॥ २८ ॥

भाव०—हे जलद ! दीर्घनिश्वासैरागण्डलम्बिनो रूक्षांश्चूर्णकुन्तलान् विक्षिपन्तीं स्वप्नजन्यमपि संभोगं प्राप्तुकामां निद्रामाकाङ्क्षन्तीं मत्प्रियां संदेशैः सुखितां विधेहि ॥ २८ ॥

सौ०—हे मेघ ! आप मेरी प्रियाको निम्नांकित दशामें पायेंगे—

वह मेरी भार्या विना तेल आदिके मर्दन किये हुए, शुद्ध जलसे स्नान करती होगी। अतः नीरस कपोलोंपर (शुष्क गण्डस्थलपर) लटकी हुई चोटियोंको वह अपने अधररूपी पल्लवोंको क्लेशित करनेवाली श्वासोंसे हटाती होगी। स्वप्नावस्थामें भी मेरा सम्भोग हो जाय ऐसी अभिलाषासे, वह अश्रुभरे नयनोंद्वारा निद्राकी इच्छा रखती होगी ॥ २८ ॥

आद्ये बद्धा विरहदिवसे या शिखा दाम हित्वा
शापस्यान्ते विगलितशुचा तां मयोद्वेष्टनीयाम्।
स्पर्शक्लिष्टामयमितनखेनासकृत्सारयन्तीं
गण्डाभोगात्कठिनविषमामेकवेणीं करेण ॥ २९ ॥

सञ्जी०—आद्य इति। आद्ये विरहदिवसे दाम मालां हित्वा त्यक्त्वा या शिखा बद्धा ग्रथिता शापस्यान्ते विगलितशुचा वीतशोकेन मयोद्वेष्टनीयां मोचनीयां स्पर्शक्लिष्टाम्। स्पर्शे सति मूलकेशेषु सव्यथामित्यर्थः। कठिना च सा विषमा निम्नोन्नता च ताम् खञ्जकुब्जादिवदन्यतमस्य प्राधान्यविवक्षया 'विशेषणं विशेष्येण बहुलम्' इति समासः। एकवेणीमेकीभूतवेणीम्। 'पूर्वकाल'—इत्यादिना तत्पुरुषः। तां शिखाम्। अयमिता अकर्तितोपान्ता नखा यस्य तेन करेण गण्डाभोगात्कपोलविस्तारादसकृन्मुहुर्मुहुः सारयन्तीमपसारयन्तीम्। 'तां पश्य' इति पूर्वेण संबन्धः। असकृत्सारणाच्चित्तविभ्रमदशा सूचिता ॥ २९ ॥

चारि०—कैश्चित् श्लोकैस्तामेव वर्णयति-आद्य इति—अयमिता असंस्कृता नखा यस्य तेन करेण तामेकवेणीं गण्डस्य कपोलस्याऽऽभोगात्पुलकादसकृद्वारं वारं सारयन्तीमपसारयन्तीं तामलं सुखयितुं पश्येति सम्बन्धः। तामिति काम्। आद्ये प्रथमे विरहदिवसे शिरोदाम मालां हित्वा या बद्धा तथा शापस्यान्ते विगलिता गता शुक्

शोको यस्य स तेन मया उद्वेष्टनीया। मोचनीया। स्पर्शस्य त्वगिन्द्रियस्य क्लिष्टां वाधिकां कठिना चासौ विषमा चोच्चावचा ताम् ॥ २९ ॥

भाव०—हे जलद! आद्ये विरहदिवसे या मया बद्धा विरहावसाने च मयैव मोचनीया तां रूक्षचूर्णकुन्तलामेकवेणीं करेण गण्डस्थलादपसारयन्तीं मत्प्रियां सन्देशैः सुखितां विधेहि ॥ २९ ॥

सौ०—हे मेघ! विरहदिवसके प्रथम दिनमें पुष्पमालाको त्याग करके जो चोटी बांधी गयी तथा शापान्त दिवसमें बीतशोक होकर मेरे द्वारा खोली जानेवाली उस स्पर्शक्लिष्टा एवं कठिनविषमा चोटीको अपने बढ़े हुए नाखूनोंवाले हाथसे गालोंपरसे बार-बार हटाती हुई मेरी भार्याको आप देखें ॥ २९ ॥

सा संन्यस्ताभरणमबला पेशलं धारयन्ती
शय्योत्सङ्गे निहितमसकृद् दुःखदुःखेन गात्रम्।
त्वामप्यस्रं नवजलमयं मोचयिष्यत्यवश्यं
प्रायः सर्वो भवति करुणावृत्तिरार्द्रान्तरात्मा ॥ ३० ॥

मल्लि०—सेति। अवला दुर्बला संन्यस्ताभरणं कृशत्वात्परित्यक्ताभरणमसकृदनेकशो दुःखदुःखेन दुःखप्रकारेण। 'प्रकारे गुणवचनस्य' इति द्विर्भावः। शय्योत्सङ्गे निहितं पेशलं मृदुलं गात्रं शरीरं धारयन्ती वहन्ती। अनेनात्यन्ताशक्त्या मूर्च्छावस्था सूच्यते। सा त्वत्सखी त्वामपि नवजलमयं नवाम्बुरूपमस्रं बाष्पमवश्यं सर्वथा मोचयिष्यति। 'द्विकर्मसु पचादीनामुपसंख्यानम्' इति मुचेः पचादित्वाद् द्विकर्मकत्वम्। तथा हि। प्रायः प्रायेणार्द्रान्तरात्मा मृदुहृदयः। मेघस्तु द्रवान्तःशरीरः। सर्वः करुणा करुणामयी वृत्तिरन्तःकरणवृत्तिर्यस्य स करुणावृत्तिर्भवति। अस्मिन्नवसरे सर्वथा त्वया शीघ्रं गन्तव्यमनन्तरदशापरिहारार्थमिति संदर्भाभिप्रायः। ननु किमिदमादिमां चक्षुःप्रीतिमुपेक्ष्यावस्थान्तराण्येव तत्रभवान्कविराहृतवान्। उच्यते-'संभोगो विप्रलम्भश्च द्विधा शृङ्गार उच्यते। संयुक्तयोस्तु संभोगो विप्रलम्भो वियुक्तयोः। पूर्वानुरागमानाख्यप्रवासकरुणात्मना। विप्रलम्भश्चतुर्धा च प्रवासस्तत्र च त्रिधा। कार्यतः संभ्रमाच्छापादस्मिन्काव्ये तु शापजः। प्रागसंगतयोर्यूनोः सति पूर्वानुरञ्जने। चक्षुःप्रीत्यादयोऽवस्था दश स्युस्तत्क्रमो यथा। दृङ्मनःसङ्गसंकल्पा जागरः कृशता रतिः। ह्रीत्यागोन्मादमूर्च्छान्ता इत्यनङ्गदशा दश। पूर्वसंगतयोरेव प्रवास इति कारणात्। न तत्रापूर्ववच्चक्षुःप्रीतिरुत्पत्तिमर्हति। दृक्सङ्गस्य तु सिद्धस्याप्यविच्छेदोऽत्र वर्ण्यते। अन्यथा पूर्ववद्वाच्या इति तावद् व्यवस्थितेः। वैयर्थ्यादादिमां हित्वा वैरस्यादन्तिमां तथा। दृक्सङ्गादिरिहाचष्ट कविरष्टावति स्थितिः। मत्साहश्यं लिखन्तीति पद्येऽस्मिन्प्रतिपादिता। चक्षुःप्रीतिरिति प्रोक्तं निरुत्तरकृताननम्। चक्षुःप्रीतिर्भवेच्चित्रेष्वदृष्टचरदर्शनात्। यथा मालविकारूपमग्निमित्रस्य

पश्यतः। प्रोषितानां च भर्तॄणां क्व दृष्टादृष्टपूर्वता। अथवात्रापि संदेहे स्वकलत्राणि पृच्छन्तु। किं भर्तृप्रत्यभिज्ञा स्यात्किं वैदेशिकभावना। प्रवासादागते स्वस्मिन्नित्यलं कलहैर्वृथा।' इति ॥ ३० ॥

चारि०—तस्या दैन्यं निरूपयति—सेति। सा अबला स्त्री एतादृशं गात्रं धारयन्ती सती त्वामपि नवजलमयमस्रं बाष्पं मोचयिष्यति। तथा दुःखितां तां विलोक्य त्वमपि रोदिष्यसीत्यर्थः। न केवलं मामपि त्वामपीत्यपेरर्थः। तस्या दुःखे तव रोदनं किं कारणमित्याह। आर्द्रान्तरात्मा सरसमनोवृत्तिः। सर्वः प्रायो बाहुल्येनावश्यं करुणमयी वृत्तिर्यस्य स तादृशो भवति। कीदृशं वपुः। विरहात्संन्यस्तानि त्यक्तान्याभरणानि यस्य तत्। तथा पेलवं मृदु। अत एव शय्याया उत्सङ्गे पृष्ठे दुःखेनातिक्लेशेन असकृद्वारं वारं निहितं दुःखदुःखेनेति। अतिशये द्विर्वचनम्। 'गात्रं वपुः संहननमि'त्यमरः ॥ ३० ॥

भाव०—हे जलद! भूषणरहितं विरहशोकेनातिकृशं मृदुशरीरं कृच्छ्रेण धारयन्ती सा मत्प्रिया स्वकीयदुरवस्थाप्रदर्शनात् त्वामपि नवनवारिमयमश्रु मोचयिष्यति यतः प्रायेणार्द्रचेताः सर्वोऽपि जनः सदयो भवति ॥ ३० ॥

सौ०—हे मेघ! आप, उस दुर्बल तथा अलंकारोंसे रहित एवं अनेकों दुःखोंसे किसी प्रकारसे शय्यापर इधर-उधर अपने मृदु शरीरको धरनेवाली मेरी बालाको, देखकर अवश्य अपने नूतन जलरूपी अश्रुओंको गिरावेंगे। क्योंकि प्रायः मृदु हृदयवाले सदा करुणामयी वृत्ति रखते हैं ॥ ३० ॥

नन्वीदृशीं दशामापन्नेति कथं त्वया निश्चितमत आह— .

जाने सख्यास्तव मयि मनः संभृतस्नेहमस्मा-
दित्थंभूतां प्रथमविरहे तामहं तर्कयामि।
वाचालं मां न खलु सुभगंमन्यभावः करोति
प्रत्यक्षं ते निखिलमचिराद् भ्रातरुक्तं मया यत् ॥ ३१ ॥

सञ्जी०—जान इति। हे मेघ, तव सख्या मनो मयि संभृतस्नेहं संचितानुरागं जाने। अस्मात्स्नेहज्ञानकारणात्प्रथमविरहे। प्रथमग्रहणं दुःखातिशयद्योतनार्थम्। तां त्वत्सखीमित्थंभूतां पूर्वोक्तावस्थामापन्नां तर्कयामि। ननु सुभगमानिनामेष स्वभावो यदात्मनि स्त्रीणामनुरागप्रकटनं तत्राह—वाचालमिति। सुभगमात्मानं मन्यत इति सुभगंमन्यः। 'आत्ममाने खश्च' इति खश्प्रत्ययः। 'अरुर्द्विषद—'इत्यादिना मुमागमः। तस्य भावः सुभगंमन्य भावः सुभगमानित्वं मां वाचालं बहुभाषिणं न करोति खलु। सौन्दर्याभिमानितां न प्रकटयामीत्यर्थः। 'स्याज्जल्पाकस्तु वाचालो वाचाटो बहुगर्ह्यवाक्' इत्यमरः। 'आलजाटचौ बहुभाषिणि इत्यालच्प्रत्ययः। किंतु हे भ्रातः

मयोक्तं यत् 'आधिक्षामाम्' इत्यादि तन्निखिलं सर्वमचिराच्छीघ्रमेव ते तव प्रत्यक्षम् । भविष्यतीति शेषः ॥ ३१ ॥

चारि०—एतादृशी सा कथं ज्ञायत इत्याह—जान इति । भो मेघ तव सख्या मत्प्रियाया मनो मयि विषये सम्भृतस्नेहमहं जाने । अस्मात्कारणात्प्रथमविरहे इत्थंभूतां तां तर्कयामि । उत्प्रेक्षे । सुभगमात्मानं मन्यते सुभगंमन्यस्तस्य भावो मां वाचालं यत्किंचनवादिनं न खलु करोति कुत एतदित्याह । यद्यस्मात् । हे भ्रातः निखिलं मयोक्तं तत्तेऽचिरात्प्रत्यक्षं भविष्यति । एवंभूतां तामवेक्ष्य भूयः सत्यमिति ज्ञास्यसीति तात्पर्यार्थः ॥ ३१ ॥

भाव०—हे जलद ! मत्प्रियाया मनो मत्स्नेहप्रवणमित्यहं जाने अतोऽननुभूतपूर्वविरहे तां पूर्वोक्तावस्थामापन्नां तर्कयामि । नाहं सुभगमानित्वेन वाचालोऽस्मि, मत्कथितमचिरात्ते प्रत्यक्षं भवेत् ॥ ३१ ॥

सौ०—हे मेघ ! अपकी सखीका मन मेरे प्रति संचितानुरागी है, इसे मैं जानता हूँ इस संचितानुरागसे मैं पूर्व वियोगमें उसकी प्रथम कथित अवस्थाकी तर्कना करता हूँ । मेरा सुभगमानित्व (सौभाग्यशील होना) मुझे वाचाल नहीं बना रहा है । मैंने जो कुछ वर्णन किया है वह आपको शीघ्र ही प्रत्यक्ष दीखेगा ॥ ३१ ॥

रुद्धापाङ्गप्रसरमलकैरञ्जनस्नेहशून्यं
प्रत्यादेशादपि च मधुनो विस्मृतभ्रूविलासम् ।
त्वय्यासन्ने नयनमुपरिस्पन्दि शङ्के मृगाक्ष्या
मीनक्षोभाच्चलकुवलयश्रीतुलामेष्यतीति ॥ ३२ ॥

सञ्जी०—रुद्धेति । अलकै रुद्धा अपाङ्गयोः प्रसरा यस्य तत्तथोक्तम् । अञ्जनेन स्नेहः स्नैग्ध्यं तेन शून्यम् । स्निग्धाञ्जनरहितमित्यर्थः । अपि च किंच मधुनो मद्यस्य प्रत्यादेशान्निराकरणात् । परित्यागादित्यर्थः । 'प्रत्यादेशो निराकृतिः' इत्यमरः । विस्मृतो भ्रूविलासो भ्रूभङ्गो येन तत् । नयनस्य रुद्धापाङ्गप्रसरत्वादिकं विरहसमुत्पन्नमिति भावः । त्वय्यासन्ने सति स्वकुशलवार्ताशंसिनीति शेषः । उपर्यूर्ध्वभागे स्पन्दते स्फुरतीत्युपरिस्पन्दि । तथा च निमित्तनिदाने—'स्पन्दान्मूर्ध्नि शुभप्रलाभं भाले पट्टं शुभं भ्रुवि । इष्टप्राप्तिं दृशोरूर्ध्वमपाङ्गे हानिमादिशेत् ।' इति । मृगाक्ष्याः स्तत्सख्या नयनम् । वाममिति शेषः । 'वामभागस्तु नारीणां पुंसां श्रेष्ठस्तु दक्षिणः । दाने देवादिपूजायां स्पन्देऽलंकरणेपि च ।' इति स्त्रीणां वामभागप्राशस्त्यात् मीनक्षोभान्मीनचलनाच्चलस्य कुवलयस्य श्रियः शोभायास्तुलां सादृश्यमेष्यतीति शङ्के तर्कयामि ॥ ३२ ॥

चारि०—अपि तत्र गते सति तस्याः शुभनिमित्तं व्याचष्टे—रुद्धेति । भो मेघ त्वयि आसन्ने निकटवर्तिनि सति मृगाक्ष्या मत्प्रियाया नयनं वामनेत्रं विवक्षितै-

कवचनात्कृतं मीनानां क्षोभात् परिवर्तनात् चलं यत्कुवलयं नीलोत्पलं तस्य श्रियस्तुलामेष्यतीति शङ्के सम्भावयामि। कीदृशम्। अलकै रुद्धोऽपाङ्गे प्रसरो यस्य तत्। अञ्जनेन स्नेहः स्निग्धत्वं तेन शून्यं, मधुनो मद्यस्य प्रत्यादेशात् निराकरणाद्विस्मृता भ्रूविलासा येन तत्। स्त्रीणां स्वभावत एव विलासयोगेऽपि मधुपानस्याभावाद्याभिव्यक्तिरिति भावः। उपरिस्पन्दश्चलनं यस्य तत्। 'अपाङ्गौ नेत्रयोरन्तौ'। 'प्रत्यादेशो निराकृतिरि'त्यमरः॥ ३२॥

भाव०—हे जलद! त्वयि निकटवर्त्तिनि सति विरहिण्या मत्प्रियाया कज्जलशून्यं भ्रूविलासवर्जितं वामनेत्रं शुभसूचकोपरिस्फुरणशालि चलपद्मशोभां धारयिष्यति॥ ३२॥

लौ०—हे मेघ! आपके समीप होनेपर मेरी प्रियाकी निम्नांकितावस्था होगी—

उसका, बालोंसे आच्छादित दृष्टि कज्जल न लगानेसे रूक्ष एवं मधके निराकरणसे विस्मृतभ्रूविलासवाला उस मृगनयनीका, वाम नेत्र आपके सन्निकट होने पर स्पन्द (फड़कना) करने लगेगा उस कालमें उसकी शोभा ऐसी मालूम होगी–जैसे जलमें मछलियोंके चञ्चलायमान होनेसे कमलोंकी शोभा होती है। स्त्रियोंका वाम भागका स्पन्दन शुभ माना जाता है॥ ३२॥

वामश्चास्याः कररुहपदैर्मुच्यमानो मदीयै-
र्मुक्ताजालं चिरपरिचितं त्याजितो दैवगत्या।
संभोगान्ते मम समुचितो हस्तसंवाहनानां
यास्यत्यूरुः सरसकदलीस्तम्भगौरश्चलत्वम्॥ ३३॥

सञ्जी०—वाम इति। मदीयैः कररुहपदैर्नखपदैः। 'पुनर्भवः कररुहो नखोऽस्त्री नखरोऽस्त्रियाम्' इत्यमरः। मुच्यमानः परिहीयमाणः नखाङ्करहित इत्यर्थः। ऊर्वोर्नखपदास्पदत्वं तु रतिरहस्ये—'कण्ठकक्षकुचपार्श्वभुजोरःश्रोणिसक्थिषु नखास्पदमाहुः' इति। चिरपरिचितं चिराभ्यस्तं मुक्ताजालं मौक्तिकसरमयं कटिभूषणं दैवगत्या दैववशेन त्याजितः। सम्प्रति नखपदोष्माभावेन शीतोपचारस्य तस्य वैयर्थ्यादिति भावः। त्यजतेर्ण्यन्तात्कर्मणि क्तः। 'द्विकर्मसु पचादीनां चोपसंख्यानमिष्यते' इति पचादित्वाद् द्विकर्मकत्वम्। संभोगान्ते मम हस्तसंवाहनानां हस्तेन मर्दनानाम्। 'संवाहनं मर्दनं स्यात्' इत्यमरः। समुचितो योग्यः। सरसो रसो रसार्द्रः परिपक्वो न शुष्कश्च स एव विवक्षितः। तत्रैव पाण्डिमसंभवात्। स चासौ कदलीस्तम्भश्च स इव गौरः पाण्डुरः। 'गौरः शरीरे सिद्धार्थे शुक्ले पीतेऽरुणेऽपि च' इति मालतीमालायाम्। अस्याः प्रियाया वाम ऊरुश्चलत्वं स्पन्दनं यास्यति प्राप्स्यति। 'ऊरोः स्पन्दाद्रतिं विद्यादूर्वोः प्राप्तिं सुवाससः' इति निमित्तनिदाने॥ ३३॥

चारि०—वाम इति। अस्याः प्रियायाः वाम ऊरुश्चलत्वं चञ्चलतां यास्यति। मम सन्देशहारिणि समीपवर्त्तिनि सति तस्याः शुभसूचकं वामनेत्रस्फुरणं च भविष्यतीति तात्पर्यार्थः। कीदृशः। मदीयः कररुहैः नखक्षतैर्मुच्यमानस्त्यज्यमानः चिरं बहुकालं परिचितमभ्यस्तं मुक्तामयं कटितटभूषणं दैवगत्या विधिवशेन त्याजितः। तथा सम्भोगस्य सुरतस्यान्तेऽवसाने मम हस्तसंवाहनानां करमर्दनानां समुचितः। कनकस्य कदलीस्तम्भस्तद्वद्गौरः पाण्डुः 'पुनर्भवः कररुहो नखोऽस्त्री नखरोऽस्त्रियामि'त्यमरः। योषित ऊरुमूले दत्तनखक्षतनिर्वापणाय मुक्ताजालं दधति। एतया तु नखक्षतसंयोगाऽभावतो मुक्ताजालं न धृतमिति ज्ञेयम् ॥ ३३ ॥

भाव०—हे जलद! मत्सन्देशहरे त्वयि संनिकृष्टे सति मत्प्रियाया इदानीं मत्कृतनखक्षतशून्यो मौक्तिकमयकटिभूषणविरहितो वाम ऊरुः शुभसूचकं स्पन्दनं धारयिष्यति ॥ ३३ ॥

सौ०—हे मेघ! मेरे नाखूनोंके चिह्नोंसे हीन तथा भाग्यवश जिसकी चिराभ्यस्त मुक्तावली (मोतीवाली) करधनी छूट गयी है। संभोग करनेके पश्चात् मेरे हाथोंसे मर्दनके योग्य नये केलेके खम्भेके समान गौरवर्ण उसकी बायीं जांघ आपके समीप जानेपर स्पन्दित हो जायगी ॥ ३३ ॥

तस्मिन्काले जलद यदि सा लब्धनिद्रासुखा स्या-
दन्वास्यैनां स्तनितविमुखो याममात्रं सहस्व।
मा भूदस्याः प्रणयिनि मयि स्वप्नलब्धे कथंचित्
सद्यः कण्ठच्युतभुजलताग्रन्थि गाढोपगूढम् ॥ ३४ ॥

लक्ष्मी०—तस्मिन्निति। हे जलद, तस्मिन्काले त्वदुपसर्पणकाले सा मत्प्रिया लब्धं निद्रासुखं यया तादृशी स्याद्यदि स्याच्चेत्। एनां निद्राणामन्वास्य। पश्चादासित्वेत्यर्थः। उपसर्गवशात्सकर्मकत्वम्। स्तनितविमुखो गर्जितपराङ्मुखो निःशब्दः सन्। अन्यथा निद्राभङ्गः स्यादिति भावः। याममात्रं प्रहरमात्रम् 'द्वौ यामप्रहरौ समौ' इत्यमरः। सहस्व प्रतीक्षस्व। प्रार्थनायां लोट्। शक्तयोरेकवारसुरतस्य यामावधिकत्वात्स्वप्नेऽपि तथा भवितव्यमित्यभिप्राय। तथा च रतिसर्वस्वे—'एकवारावधिर्यामो रतस्य परमो मतः। चण्डशक्तिमतोर्यूनोरद्भुतक्रमवर्तिनोः॥' इति। यामसहनस्य प्रयोजनमाह—मा भूदिति। अस्याः प्रियायाः प्रणयिनि प्रेयसि मयि कथंचित्कृच्छ्रेण स्वप्नलब्धे सति गाढालिङ्गनम्। नपुंसके भावे क्तः। सद्यस्तत्क्षणं कण्ठाच्च्युतः स्रस्तो भुजलतयोर्ग्रन्थिर्बन्धो यस्य तन्मा भून्मास्तु। कथंचिल्लब्धस्यालिङ्गनस्य सद्यो विघातो मा भूदित्यर्थः। न चात्र निद्रोक्तिः 'तामुन्निद्राम्' इति पूर्वोक्तेन निद्राच्छेदेन विरुध्यते, पुनः सद्यस्याद्यवस्थासु पाक्षिकनिद्रासंभवात्। तथा

च रसरत्नाकरे—'आसक्ती रोदनं निद्रा निर्लज्जानर्थवाग्भ्रमः। सप्तमादिषु जायन्ते दशाभेदेषु वासुके ॥' इति ॥ ३४ ॥

चारि०—निजवल्लभायाः स्वस्मिन्प्रेम प्रकटयन्नाह—तस्मिन्निति। हे जलद तस्मिन्काले निशीथे सा स्त्री यदि लब्धं निद्रासुखं यया सा तादृशी स्यात्तर्हि तत्र गवाक्षमार्गे स्तनितविमुखो गर्जितरहित आसीनः सन् याममात्रं सहस्व प्रतीक्षेथाः। किमर्थमित्याह—आस्याः प्रियायाः प्रणयिनि भर्त्तरि मयि कथंचित्स्वप्नलब्धे सति गाढं दृढं च तदुपगूढमालिङ्गनं च सद्यः कण्ठात् प्रच्युतो बाहुलताग्रन्थिः पाशो यस्य तत्माभूत्। 'क्षणं निमील्य नेत्रे सहसा व्यबुद्ध्यतेति वचनात्। स्वप्नापेक्षया याममात्रमिति नोक्तं किन्तु सम्भोगापेक्षया सम्भोगस्य परमावधिर्यामः। उक्तं च—'रामायां तु रतिर्यूनामिष्टा यामावसानिकी'ति ॥ ३४ ॥

भाव०—हे जलद! त्वदुपसर्पणसमये निशीथे यदि मत्प्रिया कथंचन निद्रिता स्यात्तर्हि याममात्रं गर्जितविमुखः सन् प्रतीक्षस्व स्वप्नदशायामधिगते मद्गाढालिङ्गनेऽन्तरायं मा विधेहि ॥ ३४ ॥

सौ०—हे जलद! वह मेरी प्रिया यदि उस समय आपके पहुँचनेके समय सोयी हो तो, आप उसके पीछेकी ओर एक प्रहर तक गर्जनारहित होकर प्रतीक्षा करें। क्योंकि, यदि वह बाला, कथंचित् स्वप्नमें मेरे साथ गाढालिंगन अवस्थाको प्राप्त करती हो तो उसकी भुजलतारूपी ग्रथित ग्रन्थि आपके गरजनेसे त्रुट्यमान हो जायगी—वह जाग जायगी ॥

तामुत्थाप्य स्वजलकणिकाशीतलेनानिलेन
प्रत्याश्वस्तां सममभिनवैर्जालकैर्मालतीनाम्।
विद्युद्गर्भः स्तिमितनयनां त्वत्सनाथे गवाक्षे
वक्तुं धीरः स्तनितवचनैर्मानिनीं प्रक्रमेथाः ॥ ३५ ॥

सञ्जी०—तामिति। तां प्रियां स्वस्य जलकणिकाभिर्जलबिन्दुभिः शीतलेनानिलेनोत्थाप्य प्रबोध्य। एतेन तस्याः प्रभुत्वाद्व्यजनानिलसमाधिर्व्यज्यते। यथाह भोजराजः—'मृदुभिर्मर्दनैः पादे शीतलैर्व्यजनैस्तनौ। श्रुतौ च मधुरैर्गीतैर्निद्रातो बोधयेत्प्रभुम् ॥' इति। अभिनवैर्नूतनैर्मालतीनां जालकैः समं जातीमुकुलैः सह। 'सुमना मालती जातिः' इति। 'साकं सत्रा समं सह' इति। 'क्षारको जालकं क्लीबे कलिका कोरकः पुमान्' इति चामरः। प्रत्याश्वस्तां सुस्थिताम्। अन्यच्च पुनरुच्छ्वसिताम्। श्वसेः कर्तरि क्तः। 'आदितश्च' इति चकारादिट्प्रतिषेधः। एतेनास्याः सौकुमार्यं गम्यते। त्वत्सनाथे त्वत्सहिते। 'सनाथं प्रभुमित्याहुः सहिते चित्ततापिनि' इति शब्दार्णवः। गवाक्षे स्तिमितनयनां कोऽसाविति विस्मयान्निश्चलनेत्रां मानिनीं मनस्विनीम् अनौचित्यासहिष्णुमित्यर्थः। विद्युद्गर्भोऽन्तःस्थोयस्य स विद्युद्गर्भः। अन्तर्लीनविद्युत्क इत्यर्थः। 'गर्भोऽपवारकेऽन्तःस्थे कुक्षिस्थे चार्भके मतः—' इति

शब्दार्णवः। दृष्टिप्रतिघातेन वक्तुर्मुखावलोकनप्रतिबन्धकत्वाद्य विद्युता द्योतितव्य-मिति भावः। धीरो दृढः सन्। अन्यथा स्खलवादित्वेनानाश्वासनप्रसङ्गादिति भावः। स्तनितवचनैः स्तनितान्येव वचनानि तैर्वक्तुं प्रक्रमेथा उपक्रमस्व। विध्यर्थे लिङ्। 'प्रोपाभ्याम्' इत्यात्मनेपदम्॥ ३५॥

चारि०—अथ कृत्यं दर्शयन्नाह—तामिति। हे जलद! स्वजलस्य कणिकाभिर्बि-न्दुभिः शीतलेनानिलेन वायुना मालतीनां जातीनामभिनवैर्जालकैः कलिकाभिः समं प्रत्याश्वस्तां प्रतिबद्धां गतग्लानिं वा तां प्रियामुत्थाप्य त्वं धीरैः स्तनितानि गर्जितान्येव वचनानि तैर्मानिनीं मनस्विनीं वक्तुं प्रक्रमेथा प्रारमेथाः कीदृशस्त्वम्। विद्युद्गर्भे यस्य स तादृशीं सन्। कीदृशीं त्वत्सनाथे त्वद्युक्ते गवाक्षे स्तिमिते निश्चले नयने यस्याः सा तां भर्तुः सकाशात्कोऽप्यागच्छेदित्युत्कण्ठया वातायनदत्तचक्षुषम् वर्षर्तौ मालत्यः पुष्प्यन्ति निशि विकसन्तीति प्रसिद्धिः। तदुपादानं ततोऽपि तस्याः सौकुमार्यसूचनार्थम्॥ ३५॥

भाव०—हे जलद! स्वजलबिन्दुशीतलेनानिलेन समाश्वस्तां तामुत्थाप्य त्वद्युक्ते गवाक्षेनिश्चलनेत्रां तां गर्जितरूपैर्वचोभिर्वक्तुं प्रारमेथाः॥ ३५॥

सौ०—हे मेघ! उस मेरी प्रियाको, अपने जलकी बूँदोंसे तथा शीतल पवनसे जगा दीजियेगा। नवीनतम चमेलीके फूलोंके समान उस प्रियामें स्फूर्ति लाइयेगा। जब वह स्फूर्तिमान होकर आपकी ओर निश्चलदृष्टि डाले, तब अपनी विद्युत्प्रभाको अभ्यन्तरमें रखकर धीरतासे गर्जनरूपी ध्वनिसे उस मानिनीके साथ बातचीत करनेका उपक्रम करियेगा॥ ३५॥

संप्रति दूतस्य श्रोतृजनाभिमुखीकरणचातुरीमुपदिशति—

भर्तुर्मित्रं प्रियमविधवे विद्धि मामम्बुवाहं
तत्संदेशैर्हृदयनिहितैरागतं त्वत्समीपम्।
यो वृन्दानि त्वरयति पथि श्राम्यतां प्रोषितानां
मन्द्रस्निग्धैर्ध्वनिभिरबलावेणिमोक्षोत्सुकानि॥ ३६॥

सञ्जी०—भर्तुरिति। विधवा गतभर्तृका न भवतीत्यविधवा सभर्तृका। हे अविधवे! अनेन भर्तृजीवनसूचनादनिष्टागमशङ्कां वारयति। मां भर्तुस्तव पत्युः प्रियसुहृदम्। तत्रापि हृदयनिहितैर्मनसि स्थापितैस्तत्संदेशैस्तस्य भर्तुः संदेशैस्त्व-त्समीपमागतम् भर्तृसंदेशकथनार्थमागतमित्यर्थः। अम्बुवाहं मेघं विद्धि जानीहि। न केवलमहं वार्ताहरः किंतु घटकोऽपीत्याशयेनाह—य इति। योऽम्बुवाहो मेघोऽ-बलानां स्त्रीणां वेणयस्तासां मोक्षे मोचने उत्सुकानि पथि श्राम्यतां श्रान्तिमा-पन्नानां-प्रोषितानां प्रवासिनाम् पान्थानामित्यर्थः। मन्द्रस्निग्धैः गम्भीरश्राव्यत्व-

निभिर्गर्जितैः करणैः वृन्दानि सह्वान् त्वरयति। पान्थोपकारिणो मे किमु वक्तव्यं सुहृदुपकारित्वमिति भावः ॥ ३६ ॥

चारि०—सन्देशप्रकारं दिशति—भर्तुरिति। हे आवधव ! सुवासिनि अमुना तव रमणो जीवतीत्युक्तम् भर्तुः प्रियं मित्रं मनसि निहितैस्तत्सन्देशैः, त्वत्समीपमागतं मामम्बुवाहं विद्धि जानीहि। न केवलं तस्य मित्रमात्रं किन्तु त्वदालये तस्य प्रोत्साहकश्च भवामीत्याह। यः प्रोषितानां कार्यवशाद्भार्यां विहाय देशान्तरं गतानां पथिकानां वृन्दानि समूहान् मन्द्रस्निग्धैर्धीरमधुरैर्ध्वनिभिर्गर्जितैरबलानां भर्तृविरहिताङ्गनानां वेणयः केशसंयमनविशेषास्तासां मोक्षो मोचनं तत्रोत्सुकानि उत्कण्ठितानि त्वरयति ॥ ३६ ॥

भाव०—हे जलद ! त्वं मत्प्रियां प्रति प्रथममित्थं कथयेः, हे सुवासिनि ! यः प्रोषितान् प्रियान् स्वस्वभवनं गन्तुं त्वरयति तं त्वत्प्रियस्य सखायं मां जलदं जानीहि। तत्सन्देशं गृहीत्वा त्वत्समीपागतोऽस्मि ॥ ३६ ॥

सौ०—हे अविधवे ! मुझे अपने पतिका प्रिय मित्र जानो, मैं तुम्हारे पतिका सन्देश हृदयमें धारण करके तुम्हारे समीप आया हूँ। मैं केवल वार्ताहर ही नहीं हूं, अपितु रमणियोंकी चोटियोंको खोलनेके लिये उत्कण्ठित और पथमें विश्राम करनेवाले तथा अपने गृहको लौटनेवाले व्यक्तियोंके लिये मधुर और गम्भीर ध्वनियोंसे शीघ्रता करानेवाला हूँ—शीघ्र प्रेषक हू ॥ ३६ ॥

भर्तृसख्यादिज्ञापनस्य फलमाह—

इत्याख्याते पवनतनयं मैथिलीवोन्मुखी सा
त्वामुत्कण्ठोच्छ्वसितहृदया वीक्ष्य संभाव्य चैवम्।
श्रोष्यत्यस्मात्परमवहिता सौम्य ! सीमन्तिनीनां
कान्तोदन्तः सुहृदुपगतः संगमात्किञ्चिदूनः ॥ ३७ ॥

सञ्जी०—इतीति। इत्येवमाख्याते सति पवनतनयं हनूमन्तं मैथिली सीतेव सा मत्प्रिया। उन्मुख्युत्कण्ठयौत्सुक्येनोच्छ्वसितहृदया विकसितचित्ता सती त्वां वीक्ष्य सम्भाव्य सत्कृत्य च। अस्माद्भर्तृमैत्रीज्ञापनात्परं सर्वं श्रोतव्यम्। अवहिताऽप्रमत्ता सती श्रोष्यत्येव। अत्र सीताहनुमदुपमानादस्याः पातिव्रत्यं मेघस्य दूतगुणसम्पत्तिश्च व्यज्यते। तद्गुणास्तु रत्नाकरे—'ब्रह्मचारी बली धीरो मायावी मानवर्जितः। धीमानुदारो निःशङ्को वक्ता दूतः स्त्रियां भवेत्' इति। ननु वार्तामात्रश्रवणादस्याः को लाभ इत्याशङ्क्यार्थान्तरमुपन्यस्यति—हे सौम्य ! साधो ! सीमन्तिनीनां वधूनाम्। 'नारी सीमन्तिनी वधूः' इत्यमरः। सुहृदा सुहृन्मुखेनोपगतः प्राप्तः सन्। सुहृत्पदं विप्रलम्भशङ्कानिवारणार्थम्। कान्तस्योदन्तो वार्ता कान्तोदन्तः। 'वार्ता-

प्रवृत्तिर्वृत्तान्त उदन्तः स्यात्' इत्यमरः। सङ्गमात्कान्तसम्पर्कात्किंचिदून ईषदून-स्तद्वदेवानन्दकारीत्यर्थः॥ ३७॥

चारि०—इतीति। हे सौम्य! मेघ! त्वया इत्याख्याते कथिते सति सा प्रेयसी उन्मुखी सती उत्कण्ठयोच्छ्लसितं हृदयं चेतो यस्याः सा तादृशी मैथिली सीता पवन-तनयं हनुमन्तमिव त्वां वीक्ष्य सम्भाव्य च सम्भावनीयं च विधायेत्यर्थः। अस्स-त्कर्तुर्मित्रमित्यस्माद्वचनात् परमवहिता सावधाना भवन्ती सन्देशं श्रोष्यति। साव-धानत्वे को हेतुरित्याह। सीमन्तिनीनां स्त्रीणां सुहृदा मित्रेणोपहृतः आनीतः कान्तस्य वल्लभस्योदन्तो वृत्तान्तो सङ्गमात्संयोगात्किञ्चिन्मनाक् ऊनो हीनस्तत्स-दृशो भवतीत्यर्थः॥ ३७॥

आप०—हे जलद! इत्थं कथिते सति जानकी हनुमन्तमिव त्वां दृष्ट्वा सत्कृत्य च मत्प्रिया सोत्कण्ठं सन्देशमाकर्णयिष्यति, मित्रेणानीतो वल्लभवृत्तान्तो वधूनां कृते सङ्गमसदृशो भवति॥ ३७॥

सौ०—हे सौम्य! इस प्रकारसे आपके कथनपर, जैसे सीताजी पवनपुत्र हनुमानजीको देखकर उस ओर उन्मुखी होकर उनकी वार्तामें श्रवणतत्पर हुई थीं। वैसे ही मेरी प्रिया भी आपकी ओर उन्मुखी एवं प्रसन्नचित्ता होकर आदरसे आपको देखेगी। ध्यानसे सन्देश का श्रवण करेगी। हे मेघ! सीमन्तिनियोंको सुहृद्के मुखसे सुनी हुई प्रियतमकी वार्ता से उतना ही सुख मिलता है जितना प्रियतमको साक्षात् देखनेसे होता है॥ ३७॥

सम्प्रति सन्दिशति—

तामायुष्मन्मम च वचनादात्मनश्चोपकर्तुं
ब्रूया एवं तव सहचरो रामगिर्याश्रमस्थः।
अव्यापन्नः कुशलमबले! पृच्छति त्वां वियुक्तः
पूर्वाभाष्यं सुलभविपदां प्राणिनामेतदेव॥ ३८॥

सञ्जी०—तामिति। हे आयुष्मन्! प्रशंसायां मतुप्। परोपकारश्लाघ्यजीवि-तेत्यर्थः। मम वचनं प्रार्थनावचनं तस्मात्आत्मनः स्वस्योपकर्तुं च परोपकारेणात्मानं कृतार्थयितुमित्यर्थः। उपकारक्रियां प्रति कर्मत्वेऽपि तस्योपकरोतीत्यादिवत्सम्बन्ध-मात्रविवक्षायामात्मन इति षष्ठी न विरुध्यते। यथाह भारविः-'सा लक्ष्मीरुपकुरुते यथा परेषाम्' इति। तथा श्रीहर्षश्च-'साधूनामुपकर्तुं लक्ष्मीं द्रष्टुं विहायसा गन्तुम्। न कुतूहलि कस्य मनश्चरितं च महात्मनां श्रोतुम्।' इति। तथा च 'क्वचिद् द्वितीयादर्शनात्सर्वत्र न तथा' इति नाथवचनमनाथवचनमेव। तां प्रियामेवं ब्रूयाः। त्वमिति शेषः। किमित्याह— हे अबले! तव सहचरो भर्ता रामगिरेश्चित्रकूटस्या-श्रमेषु तिष्ठतीति रामगिर्याश्रमस्थः सन्नव्यापन्नः। न मृत इत्यर्थः। अमरणे हेतु-माह—वियुक्तो वियोग प्राप्तो दुःखी एवंविधः संस्त्वां कुशलं पृच्छति। दुह्यादित्वा-त्पृच्छतेर्द्विकर्मकत्वम्। तथाहि। सुलभविपदामयत्नसिद्धविपत्तीनां प्राणिनामेतदेव

कुशलमेव पूर्वाभाष्यमेतदेव प्रथममवश्यं प्रष्टव्यम् 'कृत्याश्च' इत्यावश्यकार्थे ण्यप्रत्ययः ॥ ३८ ॥

चारि०—कुशलपृच्छाकपटेन स्वजीवितं ज्ञापयति—तामिति। हे आयुष्मन् मेघ! मम वचनाद्वाक्यादात्मन उपकर्तुं च तां मद्योषामेवं वक्ष्यमाणं ब्रूयाः कथयेः। एवमिति किम्? हे अबले प्रोषितभर्तृके! रामगिर्याश्रमस्थोऽन्यापन्नः कुशलवान् वियुक्तो दूरवर्ती सन् तव सहचरः पतिस्त्वां कुशलं पृच्छति। पृच्छतिः द्विकर्मकः। एतदेव किमिति। प्रष्टव्यमत आह। सुलभा विपदो येषां तेषां प्राणिनामेतदेव कुशलमेव पूर्वभाष्यं प्रथमप्रार्थनीयम्। आयुष्मन्नित्यनेन त्वयि जीवति सा चाहं च जीवाव इत्यसूचि। 'कुशलं क्षेममस्त्रियामि'त्यमरः ॥ ३८ ॥

भाव०—हे जलद! त्वं तां मत्प्रियामित्थं कथयेः, यच्चित्रकूटपर्वताश्रमस्थित-स्त्वत्प्रियः सकुशलो वर्त्तते, त्वत्कुशलं च स पृच्छति अनायासंविपद्गतानां कृते एतदेव प्रथममवश्यं प्रष्टव्यम् ॥ ३८ ॥

सौ०—हे आयुष्मन्! मेरी प्रार्थना स्वीकार करके तथा अपनेको परोपकारसे कृतकृत्य करनेके लिये आप मेरी उस प्रियासे इस रीतिसे कहें—'हे अबले! आपकी विरही सहचर (प्रियतम) रामगिरि आश्रममें कुशलसे जीवित है। उस वियोगीने आपको क्षेमवार्ता पूछी है। क्योंकि, सहसा आपत्तिमें पड़े हुए व्यक्तियोंको प्रथम क्षेमवार्ता ही पूछना औचित्य माना जाता है ॥ ३८ ॥

> अङ्गेनाङ्गं प्रतनु तनुना गाढतप्तेन तप्तं
> सास्रेणास्रद्रुतमविरतोत्कण्ठमुत्कण्ठितेन ।
> उष्णोच्छ्वासं समधिकतरोच्छ्वासिना दूरवर्ती
> सङ्कल्पैस्तैर्विशति विधिना वैरिणा रुद्धमार्गः ॥ ३९ ॥

सञ्जी०—अङ्गेनेति। किं च। दूरवर्त्ती दूरस्थः। न चागन्तुं शक्यत इत्याह—वैरिणा विरोधिना विधिना दैवेन रुद्धमार्गः प्रतिबद्धवर्त्मा स ते सहचरः तनुना कृशेन गाढतप्तेनात्यन्तसन्तप्तेन सास्रेण साश्रुणा। उत्कण्ठा वेदनाऽस्य जातोत्कण्ठितं तेनोत्कण्ठितेन। तदस्य सञ्जातम्–' इत्यादिना इतच्प्रत्ययः। उत्कण्ठतेर्वा कर्तरि क्तः। समधिकतरमतिप्रबलमुच्छ्वसितीति समधिकतरोच्छ्वासितेन। दीर्घनिःश्वासिनेत्यर्थः। ताच्छील्ये णिनिः। अङ्गेन स्वशरीरेण प्रतनु कृशं तप्तं वियोगदुःखेन सन्तप्तमस्रद्रुतमश्रुक्लिन्नम्। 'अश्रु नेत्राम्बु रोदनं चास्रमस्र च' इत्यमरः। अविरतोत्कण्ठमविच्छिन्नवेदनमुष्णोच्छ्वासं तीव्रनिःश्वासम्। 'तिग्मं तीक्ष्णं खरं तीव्रं चण्डमुष्णं पटु स्मृतम्' इति हलायुधः। अङ्गं त्वदीयं शरीरं तैः स्वसंवेद्यैः संकल्पैर्मनोरथैर्विशति। एकीकरोतीत्यर्थः। अत्र समानुरागित्वद्योतनाय नायकेन नायिकायाः समानावस्थत्वमुक्तम् ॥ ३९ ॥

चारि०—सन्देशान्तरं ब्रूते-अङ्गेनेति। हे सुन्दरि! वैरिणा विधात्रा रुद्धमार्गो दूरस्थस्ते प्रियस्तैस्तैः सङ्कल्पैर्मनोव्यापारैस्त्वां विशति प्रवेशं करोति केन केन

सङ्कल्पेन केन प्रकारेण विशतीत्युत्प्रेक्षायामाचष्टे। तनुना कृशेनाङ्गेन देहेन प्रतनु अङ्गं विशती। कृशत्वे निमित्तमाह। कीदृशेन गाढतप्तेन। कीदृशं तप्तं तत्राभिव्यञ्जकमाह। सास्रेण बाष्पयुक्तेन तथाऽश्रुद्रुतं द्रुतास्रम्। आहिताग्न्यादिपाठात्। अश्रुपाते हेतुमाह। उत्कण्ठितेन तथाऽविरताऽविच्छिन्नोत्कण्ठा यस्य तत्। आत्मधर्मा अप्युत्कण्ठादयः शरीरेऽपि प्रयुज्यन्ते उपचारात्। उत्कण्ठायामभिव्यञ्जकमाह—समधिकस्तीक्ष्ण उच्छ्वासो यस्य तेन। तथोष्णोच्छ्वासम्। विशतीति सर्वत्र योज्यम्। 'तिग्मं तीव्रं खरं तीक्ष्णं चण्डमुष्णं पटु स्मृतमि'ति यादवः॥ ३९॥

भाव०—हे जलद! विधिवशाद् रुद्धमार्गो दूरस्थितस्ते वल्लभः संप्रति कृशेन प्रकामतप्तेन साश्रुणोत्कण्ठितेन दीर्घोच्छ्वासयुक्तेन च स्वाङ्गेन तवापि च तथाविधमङ्गं मनोव्यापारैरेकीकरोति। इति कथयेः॥ ३९॥

सौ०—हे मेघ! प्रतिकूल दैवगतिसे प्रतिबद्ध मार्गवाला, दूरवर्त्ती वह आपका सहचर (प्रियतम) वियोगके क्लेशसे दुर्बल तथा कामज्वरसे पीड़ित एवं उष्ण अश्रुपूर्ण नेत्रयुक्त और आपसे मिलनेको उत्कण्ठित दशा में दीर्घ-उष्ण श्वासें लेता रहता है। इसी तरहसे वह आपकी दशाकी भी कल्पना कर लेता है तथा इन्हीं दशाओंसे व्याप्त आपकी देह के साथ अपने मनोरथोंकी कल्पना करता रहता है॥ ३९॥

सम्प्रति स्वावस्थानिवेदनाय प्रस्तौति—

शब्दाख्येयं यदपि किल ते यः सखीनां पुरस्ता-
त्कर्णे लोलः कथयितुमभूदाननस्पर्शलोभात्।
सोऽतिक्रान्तः श्रवणविषयं लोचनाभ्यामदृश्य-
स्त्वामुत्कण्ठाविरचितपदं मन्मुखेनेदमाह॥ ४०॥

सञ्जी०—शब्दाख्येयमिति। हे अबले! यस्ते प्रियः सखीनां पुरस्तादग्रे आननस्पर्शे त्वन्मुखसम्पर्के लोभाद्गार्ध्यात्। अधरपानलोभादित्यर्थः। शब्दाख्येयं शब्देन स्वेनाख्येयमुच्चैर्वाच्यमपि यत्तत्। वचनमपीति शेषः। कर्णे कथयितुं लोलो लालसोऽभूत्किल। 'लोलुपो लोलुभो लोलो लालसो लम्पटोऽपि च' इति यादवः। श्रवणविषयं कर्णपथमतिक्रान्तः तथा लोचनाभ्यामदृश्यः। अतिदूरत्वात् प्रष्टुं श्रोतुं च न शक्य इति भावः। स ते प्रियः। त्वामुत्कण्ठया विरचितानि पदानि सुप्तिङन्तशब्दा वाच्यानि वा यस्य तत्तथोक्तम्। 'पदं शब्दे च वाक्ये च' इति विश्वः। इदं वक्ष्यमाणं 'श्यामास्वङ्गम्' इत्याद्यिकं मन्मुखेनाह मद्व्यवधानेन स एव ब्रूत इत्यर्थः॥

चारि०—निजप्रीतिकथनेन वल्लभायाः प्रीतिमुत्पादयति—शब्देति। स यक्षः श्रवणविषयमन्योन्यवार्ताश्रवणदेशमतिक्रान्तो लोचनाभ्याम् अदृश्यो भवन् मन्मुखेनोत्कण्ठामधिकृत्य। विरचितपदं यथा स्यात्तथा त्वमिदं वक्ष्यमाणमाह—स कः। यो यक्षः शब्द एवाख्येयोऽभिधेयो यस्य यद्वचनमाननशब्देनोच्चैः शब्देना-

स्थेयं वा। तदपि किलेति सम्भावनायां सखीनां पुरस्तादाननस्पर्शलोभाद्। "त्वन्मुखस्पर्शलोभात्। त्वन्मुखस्पर्शसुखाभिलाषात्ते तव कर्णे कथयितुं लोलो लम्पटोऽभूत् ॥ ४० ॥

भाव०—हे जलद। 'यस्ते वल्लभः पुरा सखीनामग्रे शब्देनाख्येयमपि वचस्त्वत्कपोलस्पर्शलोभात् कर्णे कथयितुं लालस आसीत्, स संप्रति नेत्रकर्णयोर्विषयातीतः सन् सोत्कण्ठमुच्चारितं मन्मुखेनेदं वचोऽवोचत्' इति कथयेः ॥ ४० ॥

सौ०—हे अबले! विरहके पूर्व आपका वह पति, आपकी सखियोंके समक्ष कथनीय वार्त्ताको भी आपके मुखादि चुम्बनके प्रलोभसे आपके कानोंमें कहनेके लिए, उद्यत होता था। वे ही आपके पतिने दूर होनेसे आपसे अश्रवणीय तथा अदर्शनीय अवस्थामें होनेसे उत्कण्ठितपदवाले वाक्योंको मेरे मुखसे कहला भेजा है ॥ ४० ॥

सदृश प्रतिकृति-स्वप्नदर्शन-तदङ्गस्पृष्टस्पर्शाख्याश्चात्वारो विरहिणां विनोदोपायाः। तथा चाक्त गुणपताकायाम्—'वियोगे चायोगे प्रियजनसदृक्षानुभवनं ततश्चित्रं कर्म स्वपनसमये दर्शनमपि। तदङ्गस्पृष्टानामुपगतवतां दर्शनमपि—प्रतीकारोऽनङ्गव्यथितमनसां कोऽपि गदति ॥' तत्र सदृशवस्तुदर्शनामाह—

श्यामास्वङ्गं चकितहरिणीप्रेक्षणे दृष्टिपातं
वक्त्रच्छायां शशिनि शिखिनां बर्हभारेषु केशान्।
उत्पश्यामि प्रतनुषु नदीवीचिषु भ्रूविलासान्
हन्तैकस्मिन्क्वचिदपि न ते चण्डि! सादृश्यमस्ति ॥ ४१ ॥

सञ्जी०—श्यामास्विति। श्यामासु प्रियङ्गुलतासु। 'श्यामा तु महिलाह्वया। लता गोवन्दनी गुन्द्रा पियङ्गुः फलिनी फली ॥' इत्यमरः। अङ्गं शरीरमुत्पश्यामि। सौकुमार्यादिसाम्यादङ्गमिति तर्कयामीत्यर्थः। तथा चकितहरिणीनां प्रेक्षणे दृष्टिपातं शशिनि चन्द्रे वक्त्रच्छायां मुखकान्तिं तथा शिखिनां बर्हिणां बर्हभारेषु केशान्। प्रतनुषु स्वल्पासु नदीनां वीचिषु। अत्र वीचीनां विशेषणोपादानेनानुक्तगुणग्रहदोषः। भ्रूसाम्यनिर्वाहाय महत्त्वदोषनिराकरणार्थत्वात्तस्य। यदुक्तं रसरत्नाकरे—'ध्वन्युत्पादे गुणोत्कर्षे आगोक्तौ दोषवारणे। विशेषणाद्विशेष्यस्य नास्त्यनुक्तगुणग्रहः ॥' इति। गुणो विशेषणम्। भ्रूविलासान् इत्यत्र 'भ्रूपताकाः' इति पाठे भ्रुवः पताका इवेत्युपमितसमासः। उत्पश्यामीति सर्वत्र सम्बध्यते। तथापि नास्ति मनोनिर्वृतिरित्याशयेनाह—हन्तेति। हन्त विषादे। 'हन्त हर्षेऽनुकम्पायां वाक्यारम्भविषादयोः ॥' इत्यमरः। हे चण्डि कोपने! 'चण्डस्त्वत्यन्तकोपनः' इत्यमरः। गौरादित्वात् ङीप्। उपमानकथनमात्रे न कोपितव्यमिति भावः। क्वचिदपि कस्मिन्नप्येकस्मिन्वस्तुनि ते तव सादृश्यं नास्ति। अतो न निर्वृणोमीत्यर्थः। अनेनास्याः सौन्दर्यमनुपममिति व्यज्यते ॥ ४१ ॥

चारि०—स्वकीयं प्रेम प्रकाशयति—श्यामास्विति। हे चण्डि कोपनशीले! ते

सादृश्यमेकस्थं क्वचिदपि कुत्रापि नास्ति । हन्तेति खेदे । एकमात्रमेव दर्शयति । श्यामासु प्रियङ्गुलतासु अङ्गमुत्पश्यामि । श्यामत्वतनुताभ्यामङ्गसादृश्यम् । चकिता आश्वस्ताश्च ताश्च हरिण्यस्तासां प्रेक्षिते विलोकने दृष्टिपातमुत्पश्यामि । चञ्चलत्वेन सारूप्यम् । शशिनि वक्त्रस्य मुखस्य छायां दीप्तिं कान्तिमत्त्वानन्ददायित्वाभ्यां चन्द्रसादृश्यम् । शिखिनां मयूराणां बर्हभारेषु केशान् । नीलत्वबहुत्वादिना तत्तुल्यता । प्रतनुषु नदीवीचिषु कल्लोलेषु भ्रूविलासान् । कुटिलत्वदीर्घत्वाच्च सारूप्यम् । उत्पश्यामीति सर्वत्र प्रयोज्यम् । 'प्रियङ्गुः फलिनी श्यामे' त्यभिधानचिन्तामणिः॥४१॥

भाव०—हे जलद ! 'प्रियङ्गुलतास्वङ्गं, चकितहरिणीविलोकने दृक्पातं, चन्द्रसरि[?] कान्ति, मयूरबर्हसमूहेषु केशान् , सरित्कल्लोलेषु भ्रूविलासांश्चोत्पश्यामि, किन्तु हन्त क्वचिदपि त्वत्सादृश्याभावान्मे मनो न निर्वृतिं गच्छति' इति कथयेः ॥ ४१ ॥

कौ०—हे कोपने ! प्रियङ्गुलतामें आपकी कोमल देह, चकित हरिणियोंमें आपकी दृष्टियाँ, चन्द्रमामें आपके मुखकी शोभा, मोरगणोंके पिच्छोंमें आपके केशसमूह तथा नदियोंकी अल्प तरङ्गोंमें कटाक्षोंकी कल्पना करता रहता हूँ । परन्तु, हे सुन्दरी ! किसी भी एक वस्तुमें आपका साम्य नहीं दीखता है—इसका मुझे खेद है ॥ ४१ ॥

सम्प्रतिप्रकृतिदर्शनमाह—

त्वामालिख्य प्रणयकुपितां धातुरागैः शिलाया-
मात्मानं ते चरणपतितं यावदिच्छामि कर्तुम् ।
अस्रैस्तावन्मुहुरुपचितैर्दृष्टिरालुप्यते मे
क्रूरस्तस्मिन्नपि न सहते सङ्गमं नौ कृतान्तः ॥ ४२ ॥

सञ्जी०—त्वामिति । हे प्रिये, प्रणयेन प्रेमातिशयेन कुपितां कुपितावस्थायुक्तां त्वाम् । त्वत्प्रतिकृतिमित्यर्थः । धातवो गैरिकादयः । 'धातुर्वातादिशब्दादिगैरिकादिष्वजादिषु' इति यादवः । त एव रागा रञ्जकद्रव्याणि । 'चित्रादिरञ्जकद्रव्ये लाक्षादौ प्रणयेच्छयोः । सारङ्गादौ च रागः स्यादारुण्ये रञ्जने पुमान्' इति शब्दार्णवः । तैर्धातुरागैः । शिलायां शिलापट्टे आलिख्य निर्माय आत्मानं माम् । मत्प्रतिकृतिमित्यर्थः । ते तव । चित्रगताया इत्यर्थः । चरणपतितं कर्तुं तथा लिखितुं यावदिच्छामि तावदिच्छासमकालमेव मुहुरुपचितैः प्रवृद्धैरस्त्रैरश्रुभिः कर्तृभिः । 'अस्त्रमश्रुणि शोणिते' इति विश्वः । मे दृष्टिरालुप्यते । आव्रियत इत्यर्थः । ततो दृष्टिप्रतिबन्धनाल्लेख्यमपि प्रतिबध्यत इति भावः । क्रूरो घातुकः । 'नृशंसो घातुकः क्रूरः' इत्यमरः । कृतान्तो दैवम् । 'कृतान्तो यमसिद्धान्तदैवाकुशलकर्मसु' इत्यमरः । तस्मिन्नपि चित्रेऽपि । नौ आवयोः । 'युष्मदस्मदोः षष्ठीचतुर्थीद्वितीयास्थयोर्वांनावौ' इति नावादेशः । संगमं सहवासं न सहते । संगमलेखनमप्यावयोरसहमानं दैवमावयोः साक्षात् संगमं न सहत इति किमु वक्तव्यमित्यपिशब्दार्थः ।

चारि०—त्वामिति। हे सुन्दरि! शिलायां धातुरागैर्गैरिकादिवर्णैः प्रणयकुपितां स्नेहक्रुद्धां त्वामालिख्य चरणपतितमात्मानं कर्तुं यावदिच्छामि तावन्मुहुरुपचितैः प्रवृद्धैरस्त्रैरश्रुभिर्मे दृष्टिरालुप्यते आच्छाद्यते। क्रूरः कृतान्तो विधिस्तस्मिन्नालेख्येऽपि नौ आवयोः संगमं संयोगं न सहते न क्षमते। अत्र बुद्ध्यारूढमेव चित्रलेखनादिकं विवक्षितं न तु बाह्यान्तःकरणम्। अनुरागाभावप्रसङ्गात्। 'कृतान्तो यमसिद्धान्तदैवाकुशलकर्मसु।' इत्यमरः॥ ४२॥

भाव०—हे जलद! 'स्नेहक्रुद्धां ते प्रतिकृतिं धातुरागैः शिलापट्टे निर्माय यावदहमात्मानं प्रतिकृतिरूपेण ते चरणपतितं लेखितुमिच्छामि तावदेव पुनः पुनः प्रवृद्धैरश्रुभिर्मे दृष्टिराच्छाद्यते, तर्कये, क्रूरः कृतान्तस्तस्मिन्नप्यावयोः सङ्गमं न सहते' इति कथयेः॥ ४२॥

सौ०—हे प्रिये! प्रणयकुपित आपकी प्रतिकृति गेरू आदिसे पत्थरपर रचकर तथा उसी प्रतिकृतिमें अपनी प्रतिकृतिको आपके चरणोंपर (प्रणयकोप शमनार्थ) ज्योंही रखना चाहता हूँ त्योंही मेरा दृष्टिपथ आँसुओंसे अवरुद्ध हो जाता है। हा! हन्त! क्रूर यमराज उस कालमें भी हम लोगोंका संयोग होना पसन्द नहीं करता॥ ४२॥

अधुना स्वप्नप्रदर्शनमाह—

मामाकाशप्रणिहितभुजं निर्दयाश्लेषहेतो-
र्लब्धायास्ते कथमपि मया स्वप्नसन्दर्शनेषु।
पश्यन्तीनां न खलु बहुशो न स्थलीदेवतानां
मुक्तास्थूलास्तरुकिसलयेष्वश्रुलेशाः पतन्ति॥ ४३॥

सञ्जी०—मामिति। सुप्तस्य विज्ञानं स्वप्नः। 'स्वप्नः सुप्तस्य विज्ञानम्' इति विश्वः। सन्दर्शनं संवित्। 'दर्शनं समये शास्त्रे दृष्टौ स्वप्नेऽक्षिण संविदि।' इति शब्दार्णवः। स्वप्नसंदर्शनानि स्वप्नज्ञानानि। चूतवृक्षादिवत्सामान्यविशेषभावेन सहप्रयोगः। तेषु मया कथमपि महता प्रयत्नेन लब्धाया गृहीतायाः दृष्टाया इति यावत्। ते तव निर्दयाश्लेषो गाढालिङ्गनं स एव हेतुस्तस्य। निर्दयाश्लेषार्थमित्यर्थः। 'षष्ठी हेतुप्रयोगे' इति षष्ठी। आकाशे निर्विषये प्रणिहितभुजं प्रसारितबाहुं मां पश्यन्तीनां स्थलीदेवतानां मुक्ता मौक्तिकानीव स्थूला अश्रुलेशा बाष्पबिन्दवस्तरुकिसलयेषु। अनेन चेलाञ्चलेनाश्रुधारणसमाधिर्ध्वन्यते। बहुशो न पतन्तीति न, किन्तु पतन्त्येवेत्यर्थः। निश्चये नञ्द्वयप्रयोगः। तथा चालङ्कारिकसूत्रम्—'स्मृतिनिश्चयसिद्धार्थे। नञ्द्वयप्रयोगः सिद्धः' इति। 'महात्मगुरुदेवानामश्रुपातः क्षितौ यदि। देशभ्रंशो महद् दुःखं मरणं च भवेत् ध्रुवम्॥' इति क्षितौ देवताश्रुपातनिषेधदर्शनादस्य मरणाभावसूचनार्थं तरुकिसलयेषु पतन्तीत्युक्तम्॥ ४३॥

चारि०—स्वप्ने संयोगमाह—मामिति। हे अविधवे! स्वप्नसन्दर्शनेषु कथमपि लब्धायास्ते निर्दयं यथा स्यात्तथा आश्लेषहेतोरालिङ्गनार्थमाकाशे प्रणिहितौ

प्रेरितौ भुजौ वा यस्य स तं मां पश्यन्तीनां स्थलीदेवतानां वनाधिष्ठात्रीणां मुक्तावत् स्थूला अश्रूणां लेशाः कणास्तरुकिसलयेषु बहुशो न पतन्ति इति न। पतन्त्येवेति भावः। सम्भावनार्थं नद्वयमत्र प्रयुक्तम्। तरुकिसलयग्रहणं पतिताश्रुलेशप्रकाशाय ॥

भाव०—हे जलद! 'तव स्वप्नसंदर्शनेषु त्वद्गाढालिङ्गनार्थं प्रसारितभुजमपि विफलं मां वीक्षमाणानां वनदेवतानां तरुपल्लवेष्वश्रुबिन्दवो निपतन्त्येव' इति कथयेः ॥ ४३ ॥

सौ०—हे प्रिये! स्वप्नावस्थामें येन केन प्रकारेण आपसे साक्षात्कार होने पर आपके प्रगाढालिङ्गनके हेतु आकाशमें हाथ फैलाये हुए मुझे देखकर (यहांकी) वनदेवी भी मुक्ताके सदृश बड़े-बड़े आंसुओं की बूंदें वृक्षोंके पल्लवोंसे अनेकों बार गिराया करती हैं—इसमें नहीं है। ४३॥

इदानीं तदङ्गस्पृष्टवस्तुदर्शनमाह—

भित्त्वा सद्यः किसलयपुटान्देवदारुद्रुमाणां
ये तत्क्षीरस्रुतिसुरभयो दक्षिणेन प्रवृत्ताः।
आलिङ्ग्यन्ते गुणवति! मया ते तुषाराद्रिवाताः
पूर्वं स्पृष्टं यदि किल भवेदङ्गमेभिस्तवेति ॥ ४४ ॥

सञ्जी०—भित्त्वेति। देवदारुद्रुमाणां किसलयपुटान्पल्लवपुटान्सद्यो भित्त्वा। ये तत्क्षीरस्रुतिसुरभयस्तेषां देवदारुद्रुमाणां क्षीरस्रुतिभिः क्षीरनिष्यन्दः सुरभयः सुगन्धयः तुषाराद्रिवातत्वे लिङ्गमिदम्। ये वाता दक्षिणेन दक्षिणमार्गेण। तृतीयाविधाने प्रकृत्यादिभ्य उपसंख्यानात्तृतीया, समेन यातीतिवत्। तत्रापि करणत्वस्य प्रातीयमानत्वात् 'कर्तृकरणयोरेव तृतीया' इति भाष्यकारः। प्रवृत्ताश्चलिताः। हे गुणवति सौशील्यसौकुमार्यादिगुणसम्पन्ने! ते तुषाराद्रिवाताः पूर्वं प्रागेभिर्वातैस्तैस्तवाङ्गं स्पृष्टं भवेद्यदि किलेति सम्भावितमेतदिति बुद्ध्येत्यर्थः। 'वार्तासम्भाव्ययोः किल' इत्यमरः। मयाऽऽलिङ्ग्यन्ते आश्लिष्यन्ते। अत्र वायूनां स्पृश्यत्वेऽप्यमूर्तत्वेनालिङ्गनायोगादालिङ्ग्यन्त इत्यभिधानं यक्षस्योन्मत्तत्वात्प्रलपितमित्यदोष इति वदन्निरुक्तकारः स्वयमेवोन्मुखप्रलापीत्युपेक्षणीय ॥ ४४ ॥

चारि०—भित्त्वेति। हे प्रिये गुणवति! गुणगणकलिते! तवाङ्गमेभिः पूर्वं यदि स्पृष्टं किल भवेत् इति मया ते तुषाराद्रिवाता आलिङ्ग्यन्ते। ते के। ये वाता देवदारुद्रुमाणां वृक्षविशेषाणां किसलयपुटान् भित्त्वा विकास्य देवदारुद्रुमाणां क्षीरस्रुतिसुरभयः सन्तो दक्षिणेन मार्गेण प्रवृत्ता आगताः 'प्रकृत्यादिभ्य उपसंख्यानमिति' तृतीया। गुणवतीत्यत्र गुणशब्देन शरीरस्य हृदयस्पर्शगुणो विवक्षितः। किलेति सम्भावनायाम् ॥ ४४ ॥

भाव०—हे जलद! 'हे गुणवति! देवदारुवृक्षपल्लवपुटस्रुतक्षीरगन्धशालिनो

ये दक्षिणमारुतास्तैस्त्वदङ्गं पूर्वं स्पृष्टं भवेदिति बुद्ध्या मया ते तुषाराद्रिवाता आश्लिष्यन्ते' इति कथयेः ॥ ४४ ॥

सौ०—हे प्रिये ! देवदारु वृक्षोंके पल्लवपुटोंको तत्काल तोड़ देनेके कारण उससे क्षरते हुए दुग्धरससे सुगन्धित हिमालयका पवन दक्षिण दिशा की ओर बहनेमें प्रवृत्त हो रहा है। हे गुणवति ! उक्त पवनने आपके अङ्गोंका स्पर्श प्रथम अवश्य किया होगा ऐसा मानकर मैं उक्त पवनका आलिंगन करता हूँ ॥ ४४ ॥

संक्षिप्येत क्षण इव कथं दीर्घयामा त्रियामा
सर्वावस्थास्वहरपि कथं मन्दमन्दातपं स्यात्।
इत्थं चेतश्चटुलनयने ! दुर्लभप्रार्थनं मे
गाढोष्माभिः कृतमशरणं त्वद्वियोगव्यथाभिः ॥ ४५ ॥

सञ्जी०—संक्षिप्येतेति। दीर्घा यामाः प्रहरा यस्यां सा दीर्घयामा। विरहवेदनया तथा प्रतीयमानेत्यर्थः। त्रियामा रात्रिः। 'आद्यन्तयोरर्धयामयोर्दिनव्यवहारात् त्रियामा' इति क्षीरस्वामी। क्षण इव कथं केन प्रकारेण संक्षिप्येत लघूक्रियेत। अहरपि सर्वावस्थासु। सर्वकालेष्वित्यर्थः। मन्दमन्दो मन्दप्रकारः। 'प्रकारे गुणवचनस्य' इति द्विरुक्तिः। कर्मधारयवदुत्तरेषु' इति कर्मधारयवद्भावात्सुपो लुक्। मन्दमन्दातपमल्पसंतापं कथं स्यात्। न स्यादेव। हे चटुलनयने चञ्चलाक्षि, इत्थमनेन प्रकारेण दुर्लभप्रार्थनमप्राप्यमनोरथं मे मम चेतो गाढोष्माभिरतितीव्राभिस्त्वद्वियोगव्यथाभिरशरणमनाथं कृतम् ॥ ४५ ॥

चारि०—सङ्क्षिप्येतेति। भो अबले। दीर्घा यामाः प्रहरा यासां ता रात्रयः क्षण इव कथं सङ्क्षिप्यन्ते! सर्वावस्थासु ग्रीष्ममध्यदिनासु अहरपि कथं मन्दमन्दातपं स्यात् हे चटुलनयने वामनेत्रे! इत्थं दुर्लभप्रार्थनं मे चेतो गाढोष्माभिस्त्वद्वियोगे व्यथाभिरशरणमरक्षकं कृतम् गाढोष्माभिरित्यनेन मन्दातपविघातो विवक्षितः। वियोगव्यथाभिरित्यनेन रात्रिसङ्क्षेपविघातं इति द्रष्टव्यम्। मन्दमन्दमिति प्रकारे गुणवचनस्येति द्विर्वचनम् ॥ ४५ ॥

भाव०—हे जलद ! 'रजन्या दीर्घप्रहरत्वाद्दिवसस्य प्रगाढातपत्वात् त्वद्वियोगव्यथाभिरशरणं मे चेतः कृतम्' इति कथयेः ॥ ४५ ॥

सौ०—हे प्रिये ! मैं रातके तीनों बड़े-बड़े प्रहरोंको कैसे एक क्षणके समान कर दूँ ? सब समयमें दिवस भी सन्तापहीन कैसे हो ? हे चञ्चलाक्षि ! इस रीतिसे अपने दुर्लभ मनोरथोंको न प्राप्त करनेवाला मेरा अन्तःकरण आपके वियोगकी प्रबल वेदनासे अनाथ कर दिया गया है ॥ ४५ ॥

न च मदीयदुर्दशाश्रवणाद् भेतव्यमित्याह—

नन्वात्मानं बहु विगणयन्नात्मनैवावलम्बे
तत्कल्याणि ! त्वमपि नितरां मा गमः कातरत्वम्।

कस्यात्यन्तं सुखमुपनतं दुःखमेकान्ततो वा
नीचैर्गच्छत्युपरि च दशा चक्रनेमिक्रमेण ॥ ४६ ॥

सञ्जी०—नन्विति । नन्विपत्यामन्त्रणे । 'प्रश्नावधारणानुज्ञानुनयामन्त्रणे ननु ।' इत्यमरः । ननु प्रिये ! बहु विगणयन् 'शापान्ते सत्येवमेवं करिष्यामी' 'त्यावर्त्तयन्नात्मानमात्मनैव स्वेनैव । 'प्रकृत्यादिभ्य उपसंख्यानम्' इति तृतीया । अवलम्बे धारयामि । यथाकथंचिज्जीवामीत्यर्थः, तत्तस्मात्कारणात् । हे कल्याणि सुभगे ! त्वत्सौभाग्येनैव जीवामीति भावः । 'बह्वादिभ्यश्च' इति ङीष् । त्वमपि नितरामत्यन्तं कातरत्वं भीरुत्वं मा गमः गच्छ । गमेर्माङि लुङ 'न माङ्योगे' इत्यडागमाभावः । तादृक्सुखिनोरावयोरीदृशे दुःखे कथं न बिभेमीत्याशङ्क्याह-कस्येति । कस्य जनस्यात्यन्तं सुखमुपनतं प्राप्तमेकान्ततो नियमेन दुःखं वोपनतम् किं तु दशावस्था चक्रस्य रथाङ्गस्य नेमिस्तदन्तः । 'चक्रं रथाङ्गं तस्यान्ते नेमिः स्त्री स्यात्प्रधिः पुमान्' इत्यमरः । तस्याः क्रमेण परिपाट्या । 'क्रमः शक्तौ परिपाट्याम्' इति विश्वः । नीचैरध उपरि च गच्छति प्रवर्तते । जन्तोः सुखदुःखे पर्यावर्तेते इत्यर्थः ॥ ४६ ॥

चारि०—साम्प्रतं शोकश्रवणेन सा सदुःखा स्यादिति तामाश्वासयति नन्विति । बहु मङ्गलं भविष्यतीति विगणयन् जानन् आत्मना स्वयमेवात्मानमवलम्बे धारयामि । ननु शब्दोऽवधारणे । हे कल्याणि ! त्वमपि सुतरां कातरत्वं मा गमः । उक्तमेवार्थं संहरति । कस्यात्यन्तमतिक्रान्तावसानं नित्यमित्यर्थः । सुखमुपनतं प्राप्तं दुःखं वा एकान्तत एकान्तमुपनतम् । प्रथमार्थे तसिल् । दशावस्था चक्रनेमिक्रमेण नीचैर्वा गच्छति उपरि वा ॥ ४६ ॥

भाव०—हे जलद ! हे कल्याणि ! शापावसाने सत्येवमेव करिष्यामीति मनस्यावर्त्तयन्नहमात्मनैवात्मानमवलम्बे त्वमपि कातरभावं मा गमः, सुखदुःखे च चक्रवत् परिवर्त्तमाने स्तः, तदावयोरपि पुनः शीघ्रमेव संगमो भविष्यति' इति कथयेः ॥ ४६ ॥

सौ०—हे प्रिये ! अनेकों रीतिसे विचारकर अपनेको अपनेसे ही धैर्य दे रहा हूँ । अतः हे कल्याणि ! आप भी अधिक कातर न हों । कौन अत्यन्त सुखको सदा प्राप्त करता है ? अथवा, कौन अत्यन्त दुःखको सदा भोगता है—कोई भी नहीं ! यह सुखदुःखावस्था तो पहियेकी नेमिके समान ऊपर नीचे घूमा करती है ॥ ४६ ॥

न च निरवधिकमेतद् दुःखमित्याह—

शापान्तो मे भुजगशयनादुत्थिते शार्ङ्गपाणौ
शेषान्मासान्गमय चतुरो लोचने मीलयित्वा ।
पश्चादावां विरहगणितं तं तमात्माभिलाषं
निर्वेक्ष्यावः परिणतशरच्चन्द्रिकासु क्षपासु ॥ ४७ ॥

सञ्जी०—शापान्त इति। शार्ङ्गं नाम धनुः पाणौ स्थितं यस्य स तस्मिन् शार्ङ्गपाणौ विष्णौ 'सप्तमीविशेषणे' इत्यादिना बहुव्रीहिः। 'प्रहरणार्थेभ्यः। परे निष्ठासप्तम्यौ भवतः' इति वक्तव्यात्पाणिशब्दस्योत्तरनिपातः। भुजगः शेष एव शयनं तस्मादुत्थिते सति मे शापान्तः शापावसानम्। भविष्यतीति शेषः। शेषानवशिष्टांश्चतुरो मासान् मेघदर्शनप्रभृति हरिबोधनदिनान्तमित्यर्थः। दशदिवसाधिक्यं त्वत्र न विवक्षितमित्युक्तमेव। लोचने मीलयित्वा निमील्य गमय। धैर्येणातिवाहयेत्यर्थः। पश्चादनन्तरं त्वं चावाम्। 'त्यदादीनि सर्वैर्नित्यम्' इत्येकशेषः। 'त्यदादीनां मिथो द्वन्द्वे यत्परं तच्छिष्यते' इत्यस्मदः शेषः। विरहे गणितमेवमेवं करिष्यावीति मनस्यावर्तितम्। तं तम्। वीप्सायां द्विरुक्तिः। आत्मनोरावयोरभिलाषं मनोरथम्। परिणताः शरच्चन्द्रिका यासां तासु क्षपासु रात्रिषु निर्वेक्ष्यावो, भोक्ष्यावहे। विशतेर्लृट्। 'निर्वेशो भृतिभोगयोः' इत्यमरः। अत्र केचित् 'तमोनभस्ययोरेव वार्षिकत्वात्कथमाषाढादिचतुष्टयस्य वार्षिकत्वमुक्तमिति चोदयित्वा ऋतुत्रयपक्षाश्रयणादविरोधः' इति पर्यहार्षि तत्सर्वमसंगतम्। अत्र गतशेषाश्चत्वारो मासा इत्युक्तं कविना न तु ते वार्षिका इति। तस्मादनुक्तोपालम्भ एव। यच्च नाथेनोक्तम्। 'कथमाषाढादिचतुष्टयात्परं शरत्कालः' इति, तथाप्याकार्तिकसमाप्तेः शरत्कालानुवृत्तेः परिणतशरच्चन्द्रिकास्वित्युक्तम्। न तु तदैव शरत्प्रादुर्भाव उक्त इत्यविरोध एव ॥ ४७ ॥

चारि०—कदावयोः संयोगः स्यादित्यत आह—शापान्त इति। शार्ङ्गपाणौ नारायणे भुजगशयनादुत्थिते सति मे मम शापस्यान्तोऽवसानम्। तत्रैतान् चतुरो मासान् लोचने मीलयित्वा गमयातिवाहय। पश्चात् शरच्चन्द्रिकासु क्षपासु निशासु विरहकालगणितं सङ्कल्पितं हृदयस्थापितमित्यर्थः। तं तमात्माभिलाषभावां निर्वेक्ष्यावोऽनुभविष्यावः। इति। नन्वाषाढश्रावणयोः प्रावृट्। ततः परं शरदिति। तत्कथमाषाढात्प्रभृति मासचतुष्टयात्परः शरदिति। न चैवं वाच्यं षड् ऋतव इत्येकः पक्षः। त्रय इत्यपरः। चत्वारो वार्षिका मासा इति रामायणे। प्रयोगादत्र ऋतुत्रयापेक्षयोक्तत्वात् ॥ ४७ ॥

भाव०—हे जलद ! 'हे प्राणप्रिये ! नारायणे भुजगशयनादुत्थिते सति मे शापावसानो भविष्यति, अतोऽवशिष्टांश्चतुरो मासान् कथमप्यतिवाहय। पश्चादावां शरच्चन्द्रिकामनोरमासु निशासु तं तमाभिलाषमनुभविष्यावः। इति कथयेः ॥ ४७ ॥

सौ०—हे प्रिये ! जिस दिन भगवान् विष्णु अपनी भुजग शय्यापरसे जागेंगे उसी दिन मेरी शापावस्थाका अन्त हो जायगा। अतः येन केन प्रकारेण इन शेष चार मासोंको आखें बन्द कर बिता दीजिये। पश्चात्—शरत्कालकी रम्य रात्रियोंमें हम लोग वियोगावस्थामें चिन्तित सभी मनोरथोंको मनमाने रूपमें भोगेंगे ॥ ४७ ॥

संप्रति तस्या मेघवञ्चकत्वशङ्कानिरासायातिगूढमभिधेयमुपदिशति—

भूयश्चाहं त्वमपि शयने कण्ठलग्ना पुरा मे
निद्रां गत्वा किमपि रुदती सस्वनं विप्रबुद्धा।

सान्तर्हासं कथितमसकृत्पृच्छतश्च त्वया मे
दृष्टः स्वप्ने कितव ! रमयन्कामपि त्वं मयेति ॥ ४८ ॥

सञ्जी०—भूय इति । हे अबले ! भूयः पुनरप्याह । त्वद्भर्ता मन्मुखेनेति शेषः । मेववचनमेतत् । किमित्यत आह—पुरा पूर्वम् । पुराशब्दश्चिरातीते । 'स्यात्प्रबन्धे चिरातीते निकटागामिके पुरा ।' इत्यमरः । शयने मे कण्ठलग्नापि त्वम् । गले बद्धस्य कथमपि गमनं न संभवेदिति भावः । निद्रां गत्वा किमपि । केन वा निमित्तेनेत्यर्थः । सस्वनं सशब्दम् । उच्चैरित्यर्थः । रुदती सती वि बुद्धा । आसीरिति शेषः । असकृद्बहुशः पृच्छतः । रोदनहेतुमिति शेषः । मे मम हे कितव! त्वं कामपि रमयन्मया स्वप्ने दृष्ट इति त्वया सान्तर्हासं समन्दहासं यथा तथा कथितं चेति । त्वद्भर्ता भूयत्राहेति योजना ॥ ४८ ॥

चारि०—भूयश्चेति । भूयश्चाह पुनरपि मन्मुखेन व्याचष्टे । पुरा पूर्वमहं त्वमपि शयने सुप्तौ तत्र मे कण्ठलग्ना सती त्वं निद्रां गत्वा किमपि निमित्तं प्राप्य सस्वरं शीघ्रं सशब्दं रुदती विप्रबुद्धा । ततोऽसकृत्पृच्छतो मे मह्यं त्वया च सान्तर्हासं गूढं हसित्वा कथितम् । किमिति । रे कितव धूर्त ! मया स्वप्ने कामपि प्रेयसीं रमयन् त्वं दृष्टोऽतोऽहमीर्ष्यावशाद्रोदिमीति वचनमभिज्ञानम् ॥ ४८ ॥

भाव०—हे जलद ! 'हे प्रियतमे ! पूर्वं कदाचिन्मया सार्धमेकशय्यायां शयाना स्वप्नावस्थायां किमपि दृष्ट्वा रुदती सहसोत्थाय मत्पृष्टा सती 'स्वप्ने कयाचिदपि रमण्या सह रममाणस्त्वं मया वीक्षितोऽसि' इति कथितवती इति कथयेः ॥ ४८ ॥

सौ०—हे अबले ! आपके पतिने मेरे मुखद्वारा आपसे पुनरपि यह सन्देश कहलाया है—'हे प्रिये ! विरहके पूर्व एकदा आप मेरे साथ (यक्षके साथ), शयनके ऊपर कण्ठसे लगकर सोयी हुई थीं । परन्तु सहसा किसी निमित्तसे आप जोरोंसे रोती हुई जाग पड़ीं । मेरे द्वारा बहुत पूछे जानेपर आपने रोनेका कारण मन्दहास करते हुए बतलाया था—'हे कितव ! आपको अन्य किसी कामुकीके साथ रमण करते हुए देखकर मैं रो पड़ी।' ॥ ४८ ॥

एतस्मान्मां कुशलिनमभिज्ञानदानाद्विदित्वा
मा कौलीनादसितनयने ! मय्यविश्वासिनी भूः ।
स्नेहानाहुः किमपि विरहे ध्वंसिनस्ते त्वभोगा-
दिष्टे वस्तुन्युपचितरसाः प्रेमराशीभवन्ति ॥ ४९ ॥

सञ्जी०—एतस्मादिति । एतस्मात्पूर्वोक्तात् । अभिज्ञायतेऽनेनेत्यभिज्ञानं लक्षणं तस्य दानात्प्रापणान्मां कुशलिनं क्षेमवन्तं विदित्वा ज्ञात्वा । हे असितनयने, कुले जनसमूहे भवात्कौलीनाल्लोकप्रवादात् । एतावता कालेन परासुर्नो चेदागच्छतीति जनप्रवादादित्यर्थः । 'स्यात्कौलीनं लोकवादे युद्धे पश्वहिपक्षिणाम्' इत्यमरः । मयि विषयेऽविश्वासिनी मरणशङ्किनी मा भूर्न भव । भवतेर्लुङ् । 'न माङ्योगे' इत्य-

डागमप्रतिषेधः न च दीर्घकालविप्रकर्षात्पूर्वस्नेहनिवृत्तिः शङ्कयेत्याह—स्नेहानिति। किमपि किंचिन्निमित्तम्। न विद्यत इति शेषः। स्नेहान्प्रीतिर्विरहे सत्यन्योन्यविप्रकर्षे सति ध्वंसिनो विनश्वरानाहुः। तत्तथा न भवतीत्यभिप्रायः। किन्तु ते स्नेहा अभोगाद् विरहे भोगाभावाद्धेतोः। प्रसज्यप्रतिषेधेऽपि नञ्समास इष्यते। इष्टे वस्तुनि विषये। उपचितो रसः स्वादो येषु ते उपचितरसाः सन्तः। प्रवृद्धतृष्णा इत्यर्थः। 'रसो गन्धे रसः स्वादे तिक्तादौ विषरागयोः' इति विश्वः। प्रेमराशीभवन्ति। वियोगासहिष्णुत्वमापद्यन्त इत्यर्थः। स्नेहप्रेम्णोरवस्थाभेदाद्भेदः। तदुक्तम्—'आलोकनाभिलाषौ रागस्नेहौ ततः प्रेमा। रतिश्शृङ्गारौ योगे वियोगतो विप्रलम्भश्च॥' इति। तदेव स्फुटीकृतं रसरत्नाकरे—'प्रेक्षा दिदृक्षा रम्येषु तच्चिन्ता त्वभिलापकः। रागस्तत्सङ्गबुद्धिः स्यात्स्नेहस्तत्प्रवणक्रिया॥ तद्वियोगासहं प्रेम रतिस्तत्सहवर्तनम्। शृङ्गारस्तत्समं क्रीडा संयोगः सप्तधा क्रमात्॥' इति॥ ४९॥

चारि०—एतस्मादिति। असिते कृष्णे नयने लोचने यस्यास्तत्सम्बुद्धिः। एतस्मादमुष्मादभिज्ञानदानाच्चिह्नकथनान्मां कुशलिनं विदित्वा कौलीनात्तस्य परस्त्रीसङ्गमः सम्भाव्य इति। लोकापवादान्मयि अविश्वासिनी मा भूः। अविश्वासं मा कार्षीः। कौलीनं निरांचष्टे। विरहे वियोगे स्नेहात् ध्वंसिनो नष्टानाहुः। प्रचक्षते। तत्किमपि यत्किञ्चिदपि अविचारणीयमितिभावः। हि यस्माद्धेतोस्ते स्नेहा अभोगादिष्टे वस्तुनि उपचितरसा वर्द्धिताभिलाषाः सन्तः प्रेमराशीभन्ति। 'स्यात्कौलीनं लोकवादे युद्धे पश्वहिपक्षिणामि'त्यमरः। न माङ्योगेऽडागमः॥ ४९॥

भाव०—हे जलद! 'हे असितनयने! अस्मत्प्रेषितसन्देशरूपलक्षणान्मा जीवितं बुद्ध्वा 'मम परस्त्रीसङ्गमं संभाव्य' इति लोकापवादान्मय्यविश्वासं मा कार्षीः, वियोगे प्रणयिनामिष्टप्राप्त्यभावात् तत्र स्नेहो वर्द्धत एव न तु नश्यति' इति कथयेः॥

सौ०—हे असितनयने! इस प्रकारके अभिज्ञानके देनेसे मुझे क्षमयुक्त समझियेगा। लोकप्रवादसे मेरे विषयमें अमंगलकारिणी शङ्का न कीजियेगा। बहु कालके व्यतीत होनेसे प्रीति कम हो गयी होगी—ऐसा ध्यान भी न कीजियेगा। अपितु, अभिलषित उपभोगोंकी अप्राप्तिसे वे सब प्रीतिकी राशिरूपमें एकत्र हो गये हैं॥ ४९॥

इत्थं स्वकुशलं सन्दिश्य तत्कुशलसंदेशानयमिदानीं याचते—

आश्वास्यैवं प्रथमविरहोदग्रशोकां सखीं ते
शैलादाशु त्रिनयनवृषोत्खातकूटान्निवृत्तः।
साभिज्ञानप्रहितकुशलैस्तद्वचोभिर्ममापि
प्रातः कुन्दप्रसवशिथिलं जीवितं धारयेथाः॥ ५०॥

सञ्जी०—आश्वास्येति। प्रथमविरहेणोदग्रशोकां तीव्रदुःखां ते सखीमेवं पूर्वोक्तरीत्या आश्वास्योपजीव्य त्रिनयनस्य त्र्यम्बकस्य वृषेण वृषभेणोत्खाता अवदारिताः

कूटाः शिखराणि यस्य तस्मात्। 'कूटोऽस्त्री शिखरं शृङ्गम्' इत्यमरः। शैलात्कैलासादाशु निवृत्तः सन्प्रत्यावृत्तः सन्साभिज्ञानं सलक्षणं यथा तथा प्रहितं प्रेषितं कुशलं येषु तैस्तत्स्यास्त्वत्सख्या वचोभिर्ममापि प्रातः कुन्दप्रसवमिव शिथिलं दुर्बलं जीवितं धारयेथाः स्थापय। प्रार्थनायां लिङ्॥ ५०॥

चारि०—आश्वास्येति। भो मेघ! प्रथमविरहेण उदग्र उत्कटः शोको यस्यास्ताम् सखीं प्रियामेवमुक्तप्रकारेणाश्वास्याश्वासं दत्वा त्रिनयनस्येशस्य वृषेण वृषभेणोत्खाताः कूटाः शिखराणि यस्य तस्माच्छैलात्कैलासान्निवृत्तः सन् त्वं तस्या मद्वल्लभाया वचोभिर्ममापि मानसं धारयेथाः। कीदृशैः स्वाभिज्ञानेन स्वचिह्नेन प्रहितं कुशलं येषु तैः कीदृशं मानसं कुन्दस्य प्रसवं पुष्पं तद्वच्छिथिलं धारयेथा इति। धृ धारणेऽस्माल्लिङ्। 'कूटोऽस्त्री शिखरं शृङ्गमि' त्यमरः॥ ५०॥

भाव०—हे जलद! प्रथमविरहेण तीव्रतमदुःखवतीं मत्प्रियामित्थमाश्वास्य कैलासात्प्रतिनिवृत्तस्त्वं - तत्संदेशवचनैः कुन्दप्रसवमिव दुर्बलं मम जीवितं स्थापय॥ ५०॥

सौ०—हे मेघ! प्रथम विरहसे अतिदुःखी मेरी भार्याको इस प्रकारसे समझा करके श्री त्र्यम्बकजीके बैलों द्वारा जिस पर्वतके शिखर विश्लेषित कर दिये गये हैं। ऐसे कैलास पर्वतसे आप शीघ्र लौटकर मेरी भार्याके भेजे चिह्नों सहित वचनोंको मुझसे कहते हुए मेरे कुन्द पुष्पके समान शिथिल जीवनकी भी रक्षा करें॥ ५०॥

सम्प्रति मेघस्य प्रार्थनाङ्गीकारं प्रश्नपूर्वकं कल्पयति—

कच्चित्सौम्य! व्यवसितमिदं बन्धुकृत्यं त्वया मे
प्रत्यादेशान्न खलु भवतो धीरतां कल्पयामि।
निःशब्दोऽपि प्रदिशसि जलं याचितश्चातकेभ्यः
प्रत्युक्तं हि प्रणयिषु सतामीप्सितार्थक्रियैव॥ ५१॥

सञ्जी०—कच्चिदिति। सौम्य! साधो! इदं मे बन्धुकृत्यं बन्धुकार्यम्। देवदत्तस्य गुरुकुलमितिवत्प्रयोगः। व्यवसितं कच्चित्करिष्यामीति निश्चितं किम्। 'कच्चित्कामप्रवेदने' इत्यमरः। अभिप्रायज्ञापनं कामप्रवेदनम्। न च ते तूष्णीम्भावादनङ्गीकारं शङ्के यतस्ते स एवोचित इत्याह—प्रत्यादेशात् 'करिष्यामि' इति प्रतिवचनात् 'उक्तिराभाषणं वाक्यमादेशो वचनं वच' इति शब्दार्णवः। भवतस्तव धीरतां गाम्भीरत्वं न कल्पयामि न समर्थये खलु। तर्हि कथमङ्गीकारज्ञानं तत्राह—याचितः सन्निःशब्दोऽपि निर्गर्जितोऽपि। अप्रतिजानानोऽपीत्यर्थः। चातकेभ्यो जलं प्रदिशसि ददासि। युक्तं चैतदित्याह हि यस्मात्सतां सत्पुरुषाणां प्रणयिषु याचकेषु विषये ईप्सितार्थक्रियैवापेक्षितार्थसम्पादनमेव प्रत्युक्तं प्रतिवचनम्। क्रिया केवलमुत्तरमित्यर्थः। 'गर्जति शरदि न वर्षति वर्षासु निःस्वनो मेघः। नीचो वदति न कुरुते न वदति सुजनः करोत्येव॥' इति भावः॥ ५१॥

चारि०—साम्प्रतं जलदं सन्देशप्रार्थनामङ्गीकारतन्ब्रूते—कच्चिदिति। हे सौम्य! त्वया व्यवसितमङ्गीकृतं कच्चिदिदं मे बन्धुकृत्यं कार्यं प्रत्याख्यातुं भवतो धीरतां तूष्णीम्भावं न खलु कल्पयामि। तत्र हेतुमाह। निःशब्दोऽपि चातकेभ्यो जलं यस्माद्धेतोः प्रणयिषु याचकेषु ईप्सितार्थक्रियैव प्रयुक्तं प्रत्युत्तरम्। 'कच्चिदिष्ट-'प्रियप्रश्ने' इत्यभिधानचिन्तामणिः ॥ ५१ ॥

भाव०—हे सौम्य! इदं मे बन्धुकृत्यं 'करिष्यामीति' निश्चतं किम्? त्वं प्रार्थितः सन् निःशब्दोऽपि चातकेभ्यो जलं ददासि, अत 'इत्थं त विधास्यामि' इति प्रतिवचनाभावादहं त्वदङ्गीकृतिं समर्थये। सज्जनानां याचकजनेष्वभिलषितार्थप्रदानमेव प्रतिवचनं भवति ॥ ५१ ॥

सौ०—हे सौम्य! आपने मेरे इस बन्धुकृत्यको सम्पादन करनेका निश्चय कर लिया? इसकी स्वीकृति प्राप्तिसे मैं आपकी धीरताकी कल्पना नहीं कर सकता। क्योंकि, याचना करनेपर आप चातकोंको बिना गरजकर ही जलपान कराते हैं। उचित ही है—सत्पुरुषोंके प्रति की हुई प्रार्थना अपेक्षितार्थ सम्पादन द्वारा ही उत्तर रूपसे प्रतिफलित हुआ करती है ॥ ५१ ॥

सम्प्रति स्वापराधसमाधानपूर्वकं स्वकार्यस्यावश्यं करणं प्रार्थयमानो मेघं विसृजति—

एतत्कृत्वा प्रियमनुचितप्रार्थनावर्तिनो मे
सौहार्दाद्वा विधुर इति वा मय्यनुक्रोशबुद्ध्या।
इष्टान्देशान् विचर जलद! प्रावृषा सम्भृतश्री-
र्मा भूदेवं क्षणमपि च ते विद्युता विप्रयोगः ॥ ५२ ॥

सञ्जी०—एतदिति। हे जलद! सौहार्दात्सुहृद्भावात्। 'हृद्भगसिन्ध्वन्ते पूर्वपदस्य च' इत्युभयपदवृद्धिः। विधुरो वियुक्त इति हेतोर्वा। 'विधुरं तु प्रविश्लेषम्' इत्यमरः। मयि विषयेऽनुक्रोशबुद्ध्या करुणाबुद्ध्या वा अनुचिता तवाननुरूपा या प्रार्थना प्रियां प्रति 'सन्देशं मे हर' इत्येवं रूपा तत्र वर्तिनो निर्बन्धपरस्य मे ममैतत्सन्देशहरणरूपं प्रियं कृत्वा सम्पाद्य प्रावृषा वर्षाभिः। 'स्त्रियां प्रावृट् स्त्रियां भूम्नि वर्षा' इत्यमरः सम्भृतश्रीरुपचितशोभः सन्। इष्टान्स्वाभिलषितान्देशान्विचर। यथेष्टदेशेषु विहरेत्यर्थः। 'देशकालाध्वगन्तव्याः कर्मसंज्ञा ह्यकर्मणाम्' इति वचनात्कर्मत्वम्। एवं मद्वत्क्षणमपि स्वल्पकालमपि ते तव विद्युता। कलत्रेणेति शेषः। विप्रयोगो विरहो मा भून्मास्तु। माङ्याशिषि लुङ्। 'अन्ते काव्यस्य नित्यत्वात्कुर्यादाशिषमुत्तमाम्। सर्वत्र व्याप्यते विद्वान् नायकेच्छानुरूपिणीम् ॥' इति सारस्वतालङ्कारे दर्शनात्काव्यान्ते नायकेच्छानुरूपोऽयमाशीर्वादः प्रयुक्त इत्यनुसन्धेयम् ॥ ५२ ॥

इति श्रीमहामहोपाध्यायमल्लिनाथसूरिविरचितया सञ्जीविनीसमाख्यया व्याख्यया समेते महाकविश्रीकालिदासविरचिते मेघदूतकाव्ये उत्तरमेघः समाप्तः।

चारि०—कृतोपकारं मेघमाशीर्वादेनाभिनन्दयन् ब्रवीति—एकदिति। भो मेघ! अनुचितप्रार्थनावर्त्मनो मे सौहार्दान्मित्रत्वभावाद्वा विधुरो दुःख्यमिति वा। मयि विषयेऽनुक्रोशबुद्ध्या कृपामत्या वा एतत्प्रियं सन्देशलक्षणमिष्टं कृत्वा प्रावृषा सम्भृतश्रीः सन् इष्टान् देशान् विचर गच्छन्विहर एवं अमेव ते विद्युता सह विप्रयोगः क्षणमपि मा च भूत्। 'कृपा दयाऽनुकम्पा स्यादनुक्रोशः' इत्यमरः ॥ ५२ ॥

भाव०—हे जलद! अनुचितप्रार्थनां विदधतो मे सौहार्दाद् 'अयं दुःखी'ति वा, मयि कृपाशालित्वाद्वा इमां संदेशवहनरूपां प्रार्थनां कृपाया सफलं विधाय वर्षोपचितशोभः सन्नभिलषितान् देशान् विचर एवं मादृशवत्तवापि विद्युत्पत्नीवियोगो मा भूत् ॥ ५२ ॥

सौ०—हे मेघ! मेरे ऊपर दया करके मित्रत्वभावसे अथवा विरहीपर दयाभावसे मेरी इस प्रार्थनाको जो आपके अनुरूप नहीं है, भार्याके प्रति पहुँचा दें। तथा उसका उत्तर मेरे पासतक भेजकर आप कहीं भी अपने इष्ट देशोंमें विचरण करें मेरी प्रार्थनावहनके फलस्वरूप हे सखे! आपको कभी भी अपनी भार्यारूपी चञ्चलासे वियोगरूपी दुःख मेरे समान न सहना पड़े ॥ ५२ ॥

[तं सन्देशं जलधरवरो दिव्यवाचाचचक्षे
प्राणांस्तस्या जनहितरतो रक्षितुं यक्षवध्वाः।
प्राप्योदन्तं प्रमुदितमनाः साऽपि तस्थौ स्वभर्तुः
केषां न स्यादभिमतफला प्रार्थना ह्युत्तमेषु ॥ ५३ ॥]

चारि०—यक्षवचनानन्तरं वारिदः किमकरोदित्याशङ्कयाह—तं सन्देशमिति। जनहितरतो जलधरवरो मेघश्रेष्ठस्तस्याः यक्षवध्वाः प्राणान् रक्षितुं तत्राऽलकां गत्वा दिव्यवाचा तस्य गुह्यकस्य सन्देशं वार्तां प्रत्यवदज्जगाद। साऽपि स्वभर्तुर्यक्षस्योदन्तं वार्तामभिज्ञानादिना मत्वा प्रमुदितमनाः सती तस्थौ स्थिता। तेन वाक्यमात्रेण कथमेतदकारीत्याह—हि यस्मात् उत्तमेषु प्रार्थना केषामभिमत फला न स्यात्। अपि तु सर्वेषामित्यर्थः ॥ ५३ ॥

भाव०—इत्थं यक्षसन्देशश्रवणानन्तरं जलदवरोऽपि दिव्यवाचा तं संदेशं तत्प्रियां प्रति यथावत् कथयामास साऽपि स्वप्रियस्य वृत्तान्तमवगत्य प्रसन्नतामागमत् ततः उत्तमपुरुषविषये प्रार्थना सफला भवत्येव ॥ ५३ ॥

सौ०—जनहितरत जलधरवर उस मेघने उस यक्षपत्नीके प्राणरक्षार्थ उस अलका नगरीमें जाकर दिव्यवाणीसे यक्षके सन्देशको उसकी भार्यासे कह सुनाया। वह यक्षपत्नी अपने पतिकी कुशलता पाकर प्रमुदितमन हो गयी। उत्तमोंकी प्रार्थना किसे अभिमत नहीं होती? ॥५३॥

[श्रुत्वा वार्तां जलदकथितां तां धनेशोऽपि सद्यः
शापस्यान्तं सदयहृदयः संविधायास्तकोपः।

संयोज्यैतौ विगलितशुचौ दम्पती हृष्टचित्तौ
भोगानिष्टानविरतसुखं भोजयामास शश्वत् ॥ ५४ ॥]

चारि०—श्रुत्वेति । धनेशोऽपि कुबेरो जलदकथितां वार्तां श्रुत्वा सदयहृदयः सन् अस्तो गतः कोपो यस्य स धनेशः सद्यस्तत्क्षणं शापस्यान्तं संविधाय कृत्वा प्रातस्तुष्टचित्तो विरचितानि शुभानि मङ्गलानि याभ्यां तौ दम्पती पश्चात् शापाऽवसाने इष्टानभीष्टान् भोगान् भोजयामास ॥ ५४ ॥

॥ इति श्रीचरित्रवर्द्धनाचार्यविरचिता मेघदूतटीका सम्पूर्णा ॥

भाव०—अन्ते कुबेरोऽपि यक्षप्रेषितो मेघकथितां सन्देशवार्त्तामाकर्ण्य शीतक्रोधः सन् दयया शापस्य सद्योऽवसानं संविधायैतौ दम्पती पुनः संयोगात् प्रमुदितचित्तौ समीहितभोगान् सन्ततसुखं निरन्तरं भोजयामास ॥ ५४ ॥

इति श्रीलश्रीगोस्वामिश्रीदामोदरशास्त्रिचरणोपदिष्टपथसंचरणचणेन श्रीव्रजमोहनिप्रवरेण पङ्क्तिपावनमहीसुरेण साहित्यशास्त्रिपदवीधरेण ब्रह्मशंकरमिश्रेण विलिखितोत्तरमेघदूतभावबोधिनी 'भावबोधिनी' विवृतिः समाप्ता ।

काव्ये श्रीकालिदासीये मेघदूते महाद्भुते ।
स्पष्टं विद्यार्थिहृदये सद्यया भावबोधिनी ॥ १ ॥
अन्वर्थनाम्नी विवृतिर्मयेयं भावबोधिनी ।
वाराणस्यां विलिखिता राधारमणमन्दिरे ॥ २ ॥
श्रीदामोदरसद्गुरुप्रणमनप्रावीण्यलक्ष्मण-
श्रीकृष्णप्रणीतपदवीपान्थप्रियत्वश्रिता ।
श्रीलश्रीव्रजमोहनात्मजनुषा रासेश्वरीशंकृता-
श्रीब्रह्मान्वितशंकरे विवृता विद्यार्थिरक्षाजुषा ॥ ३ ॥
नवशून्यनभोनेत्रमितवैक्रमवत्सरे ।
माधवे धवले तिथ्यां सप्तम्यां गुरुवासरे ॥ ४ ॥

सौ०—धनेशने भी मेघकथित सन्देश श्रवणकर सदय हृदयसे तथा क्रोध शान्त करके उसी समय उसके शापको समाप्त कर दिया । फिर प्रातः शुभावसरपर उन दोनों दम्पतीको यथाभिलषित रमण करनेके लिये प्रबन्ध करा दिया ॥ ५४ ॥

इस प्रकारसे श्रीकेदारनाथ साहित्यशास्त्री विरचित सौदामिनी नामक हिन्दी भाषा टीका समाप्त हुई ।

समाप्तश्चायं ग्रन्थः ।



मेघदूत-श्लोकानुक्रमणिका

पूर्वमेघः